शैक्षिक मंथन

(द्विभाषी मासिक)

शैक्षिक क्षेत्र की प्रतिनिधि पत्रिका

वर्ष : 14 अंक : 12 1 जुलाई 2022

आषाढ़-श्रावण मास, विक्रम संवत् 2079

संस्थापक
स्व. मुकुन्दराव कुलकर्णी

❖

परामर्श
के.नरहरि
डॉ. विमल प्रसाद अग्रवाल
जगदीश प्रसाद सिंघल
शिवानन्द सिन्दनकेरा

❖

सम्पादक
डॉ. राजेन्द्र शर्मा

❖

सह सम्पादक
डॉ. शिवशरण कौशिक
भरत शर्मा

❖

संपादक मंडल
प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
डॉ. ओमप्रकाश पारीक
डॉ. एस.पी. सिंह

❖

प्रबन्ध सम्पादक
महेन्द्र कपूर

❖

व्यवस्थापक
बजरंग प्रसाद मजेजी

❖

प्रेषण प्रभारी : **नौरंग सहाय**

❖

कार्यालय प्रभारी : **आलोक चतुर्वेदी**

प्रकाशकीय कार्यालय
82, पटेल कॉलोनी, सरदार पटेल मार्ग,
जयपुर (राजस्थान) 302001
दूरभाष : 9414040403

दिल्ली ब्यूरो :
शैक्षिक महासंघ सदन, 606/13,
कृष्णा गली नं.9, मौजपुर, दिल्ली-110053
दूरभाष : 8920959986

E-mail :
shaikshikmanthan@gmail.com
Visit us at :
www.shaikshikmanthan.com

वार्षिक शुल्क ₹ 250/-
दस वर्षीय शुल्क ₹ 2000/-

पृष्ठ संयोजन : सागर कम्प्यूटर, जयपुर

शैक्षिक मंथन मासिक में प्रकाशित सामग्री से संपादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है तथा चित्रों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है।

अनुक्रमणिका

3.	सम्पादकीय	– डॉ. राजेन्द्र शर्मा
4.	गुरु – शिष्य परम्परा : तात्विक विवेचना	– हनुमान सिंह राठौड़
10.	सन्तों का जीवन दर्शन	– डॉ. गीताराम शर्मा
14.	गुरु शिष्य संबंध और संत काव्य परंपरा	– डॉ.रामावतार मेघवाल
17.	गुरु शिष्य सम्बन्ध और संत परम्परा	– राकेश कुमार शर्मा
19.	गुरु में अनंत के दर्शन और संत परंपरा	– डॉ.श्रीमती यदु शर्मा
21.	संस्कृत वाङ्मय में गुरु शिष्य संबन्ध	– डॉ. विजेन्द्र सिंह
25.	संतों का समाज दर्शन	– प्रो. प्रकाश चंद्र अग्रवाल
28.	सन्त परम्परा एवं आदर्श समतामूलक राष्ट्रजीवन	– प्रो. भगवती प्रकाश
30.	भक्त कवियों का सांस्कृतिक अवदान	– प्रो. रसाल सिंह
33.	भारतीय संतों का जीवन व समाज दर्शन	– डॉ. सोहन लाल
37.	भक्तिकाल की संत-गुरु परंपरा	– डॉ. अनुपम चतुर्वेदी
38.	विद्यार्थियों के लिए आदर्श – अर्जुन का शिष्यत्व	– संदीप जोशी
42.	संत साहित्य की व्यापकता और समाज बोध	– प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
45.	संत – साहित्य में जीवनोपयोगी नैतिक शिक्षा	– डॉ. आदित्य कुमार गुप्ता
48.	संत साहित्य का प्रदेय	– प्रियंका कुमारी गर्ग
50.	नैतिक शिक्षा और संत साहित्य	– डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह
52.	नीतिशास्त्र और भारतीय संत परंपरा	– डॉ. रेखा यादव
54.	हिंदी संत काव्य में जीवन दर्शन के विविध आयाम	– अनुराग सिंह
56.	सन्तों से सीखता – संस्कारित होता भारतीय समाज	– ओम प्रकाश पारीक
59.	संतों की सामाजिक चेतना	– प्रो. हितेन्द्र कुमार मिश्र
62.	मध्यकालीन भारतीय सन्त एवं सामाजिक समरसता	– डॉ. मोहनलाल साहू
66.	राष्ट्र-चेतना की शिक्षा के कर्णधार	– डॉ. पूर्णचन्द्र उपाध्याय
70.	संत कवियों का स्वातंत्र्य बोध और संघर्ष	– डॉ. अन्नाराम शर्मा
73.	जनजातीय संस्कृति का सनातनी जयघोष....	– डॉ. राजेश कुमार जोशी
76.	असम में वैष्णव मत का उद्भव एवं विकास	– प्रो. दिनेश कुमार चौबे
79.	असम के संतकवि श्रीमंत शंकरदेव का जीवन दर्शन	– डॉ. आदित्य कुमार मिश्र
81.	The role of Rishikas and Rishis in Teacher...	– Dr. TS Girishkumar

कभी भी अपनी शक्तियों पर घमंड न करें। क्योंकि, सभी के गुण अलग-अलग होते हैं। एक छोटी सी चींटी शकर के दानों को बीन सकती है, लेकिन एक हाथी ये काम नहीं कर सकता है।

– संत रविदास

संपादकीय

डॉ. राजेन्द्र शर्मा
सम्पादक

काकभुशुण्डिजी से जब यह पूछा गया कि ''जगत में सबसे बड़ा दु:ख कौन-सा है और सबसे बड़ा सुख कौन-सा है?'' तो उन्होंने गरूडजी से कहा कि जगत में दरिद्रता के समान दु:ख नहीं है तथा संतों के मिलन के समान सुख नहीं है। (नहिं दरिद्र सम दु:ख जग माहीं। संत मिलन सम सुख जग नाहीं।।) संत सरल हृदय होते हैं और उनका सहज स्वभाव होता है - बिना ही कारण दूसरों के हित में लगे रहना। जैसे चन्दन अपना गुण देकर काटने वाली कुल्हाड़ी को सुगन्ध से सुवासित कर देता है, वैसे ही संत का आचरण होता है। वे सब समय, सर्वत्र और सबमें समता रखते हैं। सबको सम्मान देते हैं पर स्वयं मानरहित होते हैं तथा विषयों में लिप्त नहीं होते हैं। इसलिए जिस तरह शशि और सूर्य का उदय दुनियाभर के लिए कल्याणकारक है, उसी तरह संतों का अभ्युदय सदैव सुखकर होता है। संतों का साथ पाकर शठ उसी प्रकार सुधर जाते हैं जैसे पारस के स्पर्श से लोहा सुहावना हो जाता है।

भारत में अनादि काल से संत परम्परा है पर इसके बावजूद समय के साथ-साथ काम और लोभ बढ़ता ही जा रहा है। मिथ्याभाषण तो स्वभाव बन गया है। सभी अधिकार चाहते हैं तथा बिना ही कारण अभिमान करते हैं। किसी भी तरीके से धन एवं भोग-पदार्थों की प्राप्ति हो जाए, इस हेतु ही सारे प्रयास जारी हैं। कानून बनते हैं परन्तु उनसे बचने के रास्ते पहले ही निकल जाते हैं। जिनको कानून मानना है एवं जिन्हें कानून लागू करवाना है, वे दोनों ही अपने अपने कर्तव्य के प्रति ईमानदार नहीं हैं। ऐसे लोग कम होते जा रहे हैं, जिन पर विश्वास किया जा सके। प्रश्न यह है कि धार्मिक बनकर लोगों को ठगना; गुरु बनकर शिष्य को लूटना; मित्र या भाई बनकर किसी का सतीत्वाहरण करना, रक्षक नियुक्त होकर भक्षक बन जाना, मर्यादाओं का उल्लंघन करने जैसी स्थितियों में बदलाव कैसे हो? अपने समाज एवं राष्ट्र के लिए यह चिन्त्य है।

सृष्टि त्रिगुणमयी है। इसमें सत, रज और तम तीनों का सम्मिश्रण है। मनुष्य कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। मनुष्य के अलावा अन्य योनियों को ऐसी स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्येत्तर योनियाँ भोग योनियाँ हैं जिनमें जीव प्रारब्धानुसार भोग भोगता है। इनमें नये क्रियमाण कर्म संचित नहीं होते। मनुष्य तो जन्म से मृत्यु तक कर्म में ही लगा रहता है। वह एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता है (न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। श्रीमद्भगवद्गीता 5/3) और कर्म न करने पर तो उसका जीवन निर्वाह भी नहीं हो पायेगा।

त्रिगुणमयी होने से यह सारी दुनिया गुण-दोष से युक्त है। अब यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह क्या चुनता है? उद्यान में गंदगी भी है, कीचड़ भी है और फूलों की सुगन्ध भी है। मक्खियाँ गंदगी पर जा बैठती हैं, कीड़े कीचड़ को पसंद करते हैं और उसमें जाकर रम जाते हैं और भौंरे सुगंधित पुष्पों पर जा पहुँचते हैं। कुम्भकार के सामने मिट्टी रखी हुई है। वह उससे दीपक भी बना सकता है, मटका भी बना सकता है और अन्य मनचाही वस्तु भी। त्रिगुणमयी प्रकृति के दोनों पहलू विद्यमान हैं, एक अच्छा, दूसरा बुरा; एक श्वेत, दूसरा श्याम। अँधेरा बहुत है पर प्रकाश उससे कहीं ज्यादा है। अन्याय और अधर्म है पर क्या न्याय और धर्म की शक्ति उससे कम है? लोग खराब हैं, उनमें खराबी है पर उनमें अच्छाईयाँ भी खूब हैं। उस अच्छाई एवं सद्गुण पर दृष्टि रखकर उसे बढ़ाना चाहिए एवं उसमें आनन्द लेना चाहिए।

महर्षि दत्तात्रेय के बारे में तो सर्वविदित है कि जब उन्होंने कालेपन से दृष्टि हटा ली और उज्ज्वलता पर ध्यान दिया तो उन्हें सभी जीव उपदेश देने वाले, पवित्र और आदरणीय दिखाई पड़े। उन्होंने चौबीस गुरु बनाये, जिनमें अजगर, कबूतर, कुरर पक्षी, मछली, मकड़ी, भौंरा जैसे जीव भी थे। दृष्टिकोण के सकारात्मक एवं गुणग्राही हो जाने पर दोष के स्थान पर गुण, बुराई के स्थान पर अच्छाई स्वत: ही आ बैठती है। लेकिन कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि दोषों को नहीं देखना है। पाशविक तत्त्वों को मनुष्य तत्त्व में घुलने नहीं देने के लिए प्रयास जारी रखने जरूरी हैं। कुशल हलवाई मिठाई को मक्खियों से बचाता रहता है। कर्म-कौशल की यही माँग है कि समाज में तमस बढ़ने से रूके। तमस को हटाने का सीधा-सरल उपाय यही है कि प्रकाश को फैलाया जाय। यदि हम गिलास में से वायु निकालना चाहते हैं तो उसके स्थान पर पानी या कुछ भरना पड़ेगा अन्यथा हमारा प्रयास निष्फल ही होगा। एक बार वायु निकाल देने पर दूसरी बार फिर भर जायेगी। इसलिए वायु के स्थान पर कुछ भरना ही पड़ेगा। अपराध एवं अपकृत्यों के लिए दण्ड देने का कार्य तो विधिक संस्थायें एवं न्यायपालिकायें कर रही हैं। लेकिन यह समय माँ की तरह समाज एवं छात्र-छात्राओं के मध्य सद्गुणों को फैलाने का है। भगवान भास्कर प्रकाश फैलाते हैं तो अँधेरा अपने आप भाग जाता है, बादल बरसते हैं तो गर्मी का ताप स्वत: कम हो जाता है, ज्ञान प्राप्त होने पर अज्ञान अपने आप दूर हो जाता है। बीमार होने पर दवा देना ठीक है पर समाज को स्वस्थ रखने के लिए आरोग्य नियमों की अनुपालना आवश्यक है। समाज जीवन में दण्ड नीति का अपना स्थान है, परन्तु मूल कारणों के निवारण में संतों की शिक्षा का सर्वोपरि महत्त्व है। ❑

गुरु - शिष्य परम्परा : तात्विक विवेचना

हनुमान सिंह राठौड़
शिक्षाविद एवं
सामाजिक अध्येता

जब हम कहते हैं की गुरु-शिष्य परम्परा अनादि है, तो इसका तात्पर्य क्या है? अनादि का एक अर्थ तो सृष्टि के प्रारम्भ की चेतना से है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म ने यह विचार किया कि 'एकोऽहम् बहुस्याम' तो इस 'विचार का स्फुरण' ही गुरु सत्ता की उपस्थिति का द्योतक है।

यदि लौकिक दृष्टि से विचार करें तो जबसे सृष्टि में प्रथम सजीव बना तब से गुरु तत्त्व है। कोरोना का विषाणु अत्यंत सूक्ष्म है जो नंगी आँखों से नहीं दिखाई देता। इसे देखने केलिए इलेक्ट्रॉन सूक्ष्म दर्शी चाहिए। विषाणु को सजीव और निर्जीव के बीच की कड़ी कहा जाता है। वह अमर है, क्योंकि परिस्थिति के अनुसार सक्रिय या निष्क्रिय हो सकता है। अनुकूल परिस्थितियों व इच्छित पोषक (होस्ट) मिलते ही यह सजीव की तरह व्यवहार करने लगता है, पक्षी अपना जन्मजात स्वभाव लेकर जन्म लेते हैं और जन्म भर वैसा ही आचरण करते हैं। मछली के शिशु को तैरना, बड़ी मछलियों से प्राण-रक्षा हेतु छुपना तथा आहार चयन करना किसने सिखाया? अर्थात् इन भोग योनियों का गुरु प्रकृति व परिस्थितियाँ हैं।

मनुष्य कर्मयोनि है किंतु जीवन के लिए सर्वाधिक पराश्रित है। यदि जन्म के उपरान्त जेर नहीं काढे और माँ उसे निकट लेकर दुग्धपान न कराये तो शिशु जीवित ही नहीं रह सकता। उसे भाषा, भूषा, भोजन, भ्रमण सब कुछ माँ देती है अत: उसे प्रथम गुरु कहा है। इसके उपरान्त मरण पर्यन्त वह नए अनुभव प्राप्त करता है। प्रत्येक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अनुभव प्रदाता जाने-अनजाने में गुरु स्थान पर होता है।

गुरु के प्रति श्रद्धा, समर्पण व स्मरण का दिवस पूर्णिमा को ही क्यों चुना होगा? पूर्ण चन्द्र का तेज प्रचण्ड नहीं है, सूर्य के निकट जाने के प्रयत्न में तो संपाति-गति होती है - पंख जलाकर धरती पर आना पड़ता है, किंतु उसकी ओर देखना भी संभव नहीं है। ज्ञान-दग्ध व्यक्ति विद्वान तो हो सकता है, गुरु नहीं बन सकता। गुरु में पूर्णता भी चाहिए और शीतलता भी। पूर्णिमा दोनों शर्तों की पूर्ति करती है। यह कृष्ण और गोपियों का अखण्ड मण्डलाकार महाराक्ष है - साध्य और साधकों की एक लय-ताल में परम ज्ञान का 'अंतरिक्ष नृत्य' (कॉस्मिक डांस)। यह भारत की ज्ञान परम्परा का प्रतीक भी है। प्रत्येक गुरु कभी शिष्य होता है। जिसमें अच्छा शिष्य बनने की सिद्धता है वही सच्चागुरु बनने की पात्रता प्राप्त कर सकता है। चन्द्रमा स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित नहीं है। वह सूर्य से प्राप्त प्रकाश को परावर्तित करता है। गुरु कष्णिका (ब्लेक होल) नहीं होता कि वह समस्त

प्रकाश को अवशोषित कर ले और किसी को कुछ न दे। गुरु अपनी गुरु-परम्परा से प्राप्त ज्ञान को अपनी परावर्तन क्षमता से विसरित कर देता है जैसे चन्द्रमा, सूर्य से प्राप्त प्रकाश को परावर्तित कर देता है - 'तेरा तुझको अर्पण।'

गुरु पूर्णिमा की ऐच्छिक अनुलोम-विलोम संधि करें तो भी एक अर्थ अद्धारित होता है। 'गुरु-पूर्ण-मा' अर्थात् गुरु माँ से भी अग्रिम श्रेणी में है - वह पूर्ण माँ है, क्योंकि वह निःस्वार्थ भाव से माँ का कर्त्तव्य पूर्ण करता है। शिष्य के शिक्षण, संरक्षण, पोषण, संवर्धन, परिवर्तन का उत्तरदायित्व जिसका है वह गुरु पूर्ण माँ हो सकता है।

अथर्ववेद (11-7-3) आचार्य को माँ बनने का आह्वान है -

आचार्य उपनययानो
ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
ते रात्रिस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं
जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।

ब्रह्मचारी को अपने समीप बुलाते हुए (उपनयन संस्कार) आचार्य अपने ज्ञान रूपी शरीर के गर्भ में उसे धारण करता है। आचार्य तीन रात्रि तक उसे अपने गर्भ में रखता है। जब (दूसरे आध्यात्मिक जन्म को लेकर) वह बाहर आ जाता है, तो देवगण (दिव्य शक्ति प्रवाह या सत्पुरुष) एकत्रित होते हैं (इसको सहयोग या अभिनन्दन के लिए)।

तीन रात्रि गर्भ में रखने का कहा है, तीन दिवस नहीं। रात्रि अज्ञान का प्रतीक है। जब तक शिष्य तीनों प्रकार के अंधकारों - (क) भावना, विचारणा तथा कायापरक अभाव (ख) अज्ञान (ग) अशक्ति का निवारण नहीं हो जाता, तब तक आचार्य उसे अपने संरक्षण (गर्भ) में रखते हैं। अर्थात् आचार्यपूर्ण माँ है।

इससे व्युत्क्रम विच्छेद करें तो 'मा-पूर्ण-गुरु' है। माँ पूर्ण गुरु है क्योंकि भविष्य का निर्माण वह वर्तमान में करती है - स्थायी संस्कार के बीज बोकर। वह शिवाजी का सृजन कर सकती है

शिष्य और गुरु अन्योन्याश्रित हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। गुरु-शिष्य की यह उदात्त परम्परा सार्वभौमिक है। गुरु किसी व्यक्ति, संस्थान या पीठ से सम्बद्ध होता है, किन्तु इनसे आबद्ध नहीं। वह शिष्य का गुरु होता है। इन दोनों का सायुज्य चाहिए। गुरु 'अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्त येन चराचरम्' है। ज्ञान का प्रारम्भ और अंत नहीं है। ज्ञान का प्रवाह अखण्ड-मण्डलाकार है और ज्ञान का एक बिन्दु नहीं है, इसका परास चराचर है, चाहिए केवल पात्रता। उपनयन संस्कार पात्रता की ही परीक्षा है। पात्रता की प्रथम शर्त है जिज्ञासा। जिज्ञासा ज्ञान के स्त्रोत के समीप ले जाती है।

कर्त्तव्यारूढ़ होकर तो सुनाना डाकू बनने का कारक भी बन सकती है, कर्त्तव्यच्युत होकर।

गुरु पूर्णिमा को अनुशासन पर्व भी कहते हैं। इसका तात्पर्य है गुरुजनोंके अनुशासन में चलने का प्रण व समर्पण। अनु-अनुसरण, पीछे-पीछे तथा शासन-विधि-निषेधों की संहिता। नीति-नियमों का यथावत पालन करना अनुशासन कहलाता है तथा जो विधि के पालन का स्वभाव स्व-आचरण से बनाता है उसे गुरु कहते हैं। अनुशासन मानने वाला ही प्रशासन का अधिकारी होता है। यह आत्मिक एवं जागतिक दोनों प्रकार की प्रगति के सन्दर्भ में सत्य है।

यह व्यास पूर्णिमा है। व्यास अर्थात् केन्द्र के अधिष्ठान से गुजरने वाला परिधि पर्यन्त विस्तार। व्यास अर्थात् ज्ञान-परम्परा का ग्राहक, संवाहक और सम्प्रदायक। जो स्वयं चरित्रवान है एवं वाणी तथा लेखनी से प्रेरणा का संचार करने वाली कथा का मर्मज्ञ है, ऐसे आदर्श गुरु को व्यास की उपाधि दी जाती है। महर्षि व्यास की महान् परम्परा का प्रतीक है यह पर्व और समाज में आज भी व्यास पीठ के सम्मान की परम्परा है।

गुरु पूर्णिमा को शिव ज्ञान, बुद्ध ज्ञान तथा अर्हंत ज्ञान का प्रदान किया जाना संयोग नहीं सुयोग है। शिव को आदिगुरु कहा जाता है। वह आदियोगी है जिसने ध्यानावस्था में सृष्टि-सत्यों को देखा और इस आध्यात्मिक अनुभूति का ज्ञान इसी दिन सप्त ऋषियों को प्रदान किया। सप्तऋषियों ने यह ज्ञान लोक में संचरित किया। शिव अर्थात् कल्याण का सप्त राशियों के रूप में संचरण! कितनी अलौकिक परम्परा है।

तथागत बुद्ध ने गुरु पूर्णिमा के दिन सारनाथ में पाँच भिक्षुओं को धर्म का पहला उपदेश दिया। इसे 'प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन' कहते हैं। गुरु पूर्णिमा को 'बौद्ध बंध दिवस' कहा जाता है।

जैन मत में इसे त्रिलोक गुहा पूर्णिमा कहा जाता है। चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर को ही 'त्रिनोक गुहा' अर्थात् प्रथम गुरु माना जाता है। भगवान महावीर ने इसी दिन इंद्रभूति गौतम को अपना प्रथम शिष्य बनाया।

प्रथम उपदेश में तथागत बुद्ध ने चार आर्य सत्य बताये- दु:ख है, दु:ख का कारण है, दु:ख का निवारण संभव है, उपाय निर्वाण है। भगवान महावीर ने पाँच यमों - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया। दोनों भारतीय जीवन-दर्शन के मूलाधार तथा आध्यात्मिक उन्नति के सोपान हैं। यही गुरु का अर्थ है - 'गुकारश्च अंधकारों ही रूकारस्तेज उच्यते।' अविद्या केअंधकार से दु:ख हैं तथा विद्या से ही 'अमृतं अश्नुते' अमृत की प्राप्ति होती है।

यह आषाढ़ी पूर्णिमा है। यदि उत्तर आषाढ़ी नक्षत्र में पूर्णिमा हो तो यह शुभ और फलदायी संयोग माना जाता है। इस दिन दस विश्वदेवों की पूजा की जाती है। आषाढ़ से वर्षारम्भ माना जाता है और चातुर्मास प्रारम्भ होता है। यह गुरु सानिध्य में स्वाध्याय का पर्व है - 'स्वाध्यायान्माप्रमद:' की चेतावनी का समाधान।

शिष्य और गुरु अन्योन्याश्रित हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। गुरु-शिष्य की यह उदात्त परम्परा सार्वभौमिक है। गुरु किसी व्यक्ति, संस्थान या पीठ से सम्बद्ध होता है, किन्तु इनसे आबद्ध नहीं। वह शिष्य का गुरु होता है। इन दोनों का सायुज्य चाहिए। गुरु 'अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्' है। ज्ञान का प्रारम्भ और अंत नहीं है। ज्ञान का प्रवाह अखण्ड-मण्डलाकार है और ज्ञान का एक बिन्दु नहीं है, इसका परास चराचर है, चाहिए केवल पात्रता। उपनयन संस्कार पात्रता की ही परीक्षा है। पात्रता की प्रथम शर्त है जिज्ञासा। जिज्ञासा ज्ञान के स्रोत के समीप ले जाती है। उप=समीप, नयन=ले जाना। ज्ञान के स्रोत के समीप जाइये, ले जाइये और स्वामी विवेकानंद तो इससे आगे कहते हैं कि 'यदि प्यासा कुएँ के पास नहीं जाता तो कुएँ को प्यासे के पास ले जाइये।' चाणक्य अपना शिष्य ढूँढने खुद निकलता है सम्भावनाओं के बीज देखकर चरवाहे चन्द्रगुप्त का चयन कर इच्छित स्वरूप प्रदान करता है। जिसे गुरु की खोज है उसे 'समित्पाणि' जाना चाहिए। हाथ में समिधा लिए अर्थात् सम्पूर्ण समर्पण, बिनाशर्त समर्पण, अपने व्यक्तित्व को स्वाहा करने की सिद्धता। अपने अन्तर की आग को प्रज्वलित करना और उस ज्ञानाग्नि में दग्ध होकर 'होम पक्षी' की तरह नवजीवन प्राप्त करना - द्विज होकर निकलना। अथर्ववेद (11-7-4) में ऋषि गाता है -

''इयं समित् पृथिवी
द्यौर्द्वितीयोन्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा, मेखलया,
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।।''

- ब्रह्मचारी समिधा, मेखला, श्रम और तप द्वारा लोकों का पोषण करता है। उसकी पहली समिधा पृथ्वी है, दूसरी शलोक है तथा (तीसरी) अंतरिक्ष है। समिधा ही अग्नि को धारण करती है, मेखला उसे मर्यादित रखती है। यह ऊर्जा को उत्पादित करने तथा उसका मर्यादित उपयोग करने का प्रतीक है। श्रम स्थूल पुरुषार्थ और तप सूक्ष्म पुरुषार्थ है। शरीर के क्रम में प्रथम समिधा-पृथ्वी (नाभि से नीचे का अंग) अर्थात् ब्रह्माग्नि प्राप्त करने के लिए पहले स्थूल ब्रह्मचर्य का अभ्यास। बुद्धं शरणं गच्छामि, लौकिक स्थूल वस्तुओं के आकर्षण व मोह से मुक्ति हेतु किसी ध्येय-पुरुष (हीरो वर्शिप) के प्रति समर्पण। शुलाक दूसरी समिधा है अर्थात् मस्तिष्क जो बौद्धिक ज्ञान तर्क बुद्धि का केन्द्र है। इसके द्वारा 'संघं शरणम् गच्छामि' अर्थात् विचारों को ब्रह्मानुशासन में लाना। तीसरी समिधा अंतरिक्ष है अर्थात् नाभि से कण्ठ तक का भाग। यह 'धम्मं शरणम् गच्छामि' है- हृदय का क्षेत्र जिसके द्वारा भावों को ब्रह्मभय बनाना है।

आचार्य द्वारा शिष्य को तीन रात्रि तक गर्भ में धारण करने का जो रूपक है, इसमें अशक्ति, अज्ञान एवं अभाव रूपीतीन रात्रियों का क्षय करने वाली ये तीन समिधाएँ हैं।

आचार्य शिष्य के लिए ज्ञान के अवसरों का सृजन करने वाला तथा शिष्य प्राप्त ज्ञान की अपनी तप: साधना द्वारा रक्षा करने वाला चाहिए। अथर्ववेद (11-7-8) इसका कथन करता है -

आचार्य स्ततक्ष नभसी उभे
इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवी दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन्
देवा: संमनसो भवन्ति।।

आचार्य के गर्भ में ब्रह्मचारी को नया जीवन मिलता है। उसका विवरण देते हुए ऋषि कहते हैं कि आचार्य नभ (गर्भाकाश) में दोनों बड़े और गंभीर पृथ्वी और द्युलोक का सृजन (ब्रह्मचारी के लिए) करते हैं। ब्रह्मचारी अपनी तप: साधना से उनकी रक्षा करता है, अत: देवगण उसके साथ सौमनस्यतापूर्वक रहते हैं।

पृथ्वी पार्थिव देह की तथा द्युलोक चेतन प्रवाह का प्रतीक है। आचार्य के गर्भ में ब्रह्मचारी के ये दोनों ही आधार बदल जाते हैं। दोनों में से हीनता, संकीर्णता का निवारण होकर उनमें महत्ता एवं गंभीरता का समावेश होता है। इन प्राप्त विभूतियों की रक्षा तप: शक्ति से ही की जा सकती है, तभी देव-अनुग्रह प्राप्ति का सुयोग बनता है।

अथर्ववेद के वर्णन से ध्यान में आता है कि सबसे महत्त्वपूर्ण है आचार्य का साहचर्य। कोरोना विषाणु के वैश्विक प्रकोप के समय सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग करते हुए 'शिक्षक से दूर शिक्षण' के प्रयोग और उसके परिणाम शोध के रूप में सामने आ रहे हैं जो निराशाजनक हैं। ये उपकरण और विधियाँ सहायक तो हो सकती हैं, आचार्य का विकल्प नहीं बन सकती। आचार्य के आचरण से शिष्य अपनी पात्रता के अनुसार अनुसरण का अभ्यास व इस अभ्यास को बनाये रखने के संकल्प से आसुरी प्रवाहों का निर्दलन कर सकता है। अथर्ववेद (11-7-7) की ऋचा इसी सत्य को उद्घाटित करती है -

ब्रह्मचारी जनयन ब्रह्मापो लोकं
प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो
ह भूत्वा सुरांस्ततई।।

अमृत गर्भ (आचार्य के प्रेरक सानिध्य व मार्ग-दर्शन) में रहकर ब्रह्मचारी ब्रह्मतेज (ज्ञान का आभा मण्डल), श्रेष्ठ लोकों (प्राप्त ज्ञान-शील-आचरण से समाज में श्रेष्ठ स्थिति या कार्य क्षेत्र), प्रजापति (गृहस्थाश्रम में प्रजापालक सामर्थ्य) तथा सर्वश्रेष्ठ स्थिति वाले विराट को उत्पन्न (अपने भीतर जाग्रत) करता है। तब वह इन्द्र (ज्ञान, आचरण का पुरुषार्थ से नियंता बनकर) निश्चित रूप से असुरों (आसुरी प्रवाहों) को नष्ट करता है।

आचार्य अर्थात् 'आचरण से अनुकरण की प्रेरणा देने वाला आदर्श'। यदि आचार्य में गुण-समुच्चय नहीं है तो तथ्यों का स्थानांतरण और उसके प्रत्यास्मरण द्वारा लेखन से उत्तीर्णता का प्रमाण पत्र तो दिया जा सकता है, जिसे 'ऋतं च सत्यं च' कहते हैं वह ज्ञान प्रदान नहीं किया जा सकता। अथर्ववेद (11-7-14) का कथन है कि आचार्य मृत्यु अर्थात् वह यम रूप में अनुशीलनकर्ता भी हो सकता है और एक पीढ़ी को ज्ञान से वंचित कर पूर्ण अस्तित्व को समाप्त करने वाला भी हो सकता है। वह वरुण की तरह नव सृजक, सोम की तरह आनंद प्रवाह का स्रोत, औषधि की तरह अविधा का उपचारक, पय की तरह शिष्य के लिए दुग्ध अर्थात् पोषक रस का पान कराने वाला हो सकता है। वह खारे सागर से तपकर मीठा जल देने वाले मेघ की तरह सत् प्रवाह करने वाला है; क्योंकि आचार्य ने ही (साधक शिष्य में) यह (नया) स्व: (आत्मबोध) भर दिया है। एक आदर्श शिक्षक की इससे सुंदर परिभाषा नहीं हो सकती -

आचार्यो मृत्युर्वरूण: सोम
ओषधय: पय:।
जीमता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं
स्व? राभृतम्।।

आचार्य को आदर्श आचरण का संचरण क्यों करना चाहिए? आजकल इसकी चर्चा करने पर कहते हैं; मैं अपना विषय अच्छा पढ़ाता हूँ न, फिर मेरे व्यक्तिगत जीवन (पर्सनल लाइफ) से आपको क्या करना? जब हम समाज में रहते हैं तो कुछ भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता। प्रत्येक कृत्य अन्य को प्रभावित

करता है, यहाँ तक कि विचार भी। अत: क्रमश: स्खलन भी संचित होकर भावी आचार्यों में विकराल विकृति उत्पन्न करेंगे - यह अब दिखायी देने लगा है। आज के शिष्यों में से ही हमें भावी आचार्य प्राप्त होने हैं, शासक-प्रशासक प्राप्त होने हैं। अथर्ववेद (11-7-16) में इसी का संकेत करते हुए कहा है कि 'ब्रह्मचारी ही आचार्य बनता है और ब्रह्मचारी ही शासक बनता है' अत: आचार्य को वर्तमान गढ़ते समय भविष्य में स्खलन न हो इसका सुरक्षा चक्र निर्मित करने का विवेक रखना पड़ता है -

''आचार्यो ब्रह्मचारी,
ब्रह्मचारी प्रजापति:''

'गुरु-शिष्य-गुरु' यह शृंखला अबाध चलती रहे तो उस राष्ट्र व उसकी संस्कृति की अवनति नहीं होती। अत: इस प्रक्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य का है। उसके आत्मचिंतन का अवसर है गुरु पूर्णिमा कि वह अपने विरद या उपाधि के अनुरूप आचरण कर रहा है या नहीं। वायुपुराण (50-30) में आचार्य के अभिधान का स्मरण करवाया है -

''स्वयमाचरते यस्माद्
आचारं स्थापयत्यपि।
आचिनोति च शास्त्रार्थान्
यमै: सनियमैर्युत:।।''

अर्थात् जो स्वयं अपनी विद्या के अनुरूप आचरण करते हैं, विद्यार्थियों का आचार में स्थापन करते हैं और यम-नियमशील होकर शास्त्रीय अर्थों की उपपत्ति करते हैं, वे आचार्य हैं। इसमें तीन सार्वकालिक महत्त्व की बातें हैं - स्वयं का आचरण, दूसरों को आचरण सिखाना, अपने शास्त्र ज्ञान का तत्त्वज्ञ होना।

डॉ. राधकृष्णन कहते हैं, ''बौद्धिक कार्य सबके लिए नहीं है, वह केवल उनके लिए है जो बौद्धिक स्तर पर क्षमतायुक्त हों। अभिप्राय स्पष्ट है - वे ही अध्यापक हों जिनकी अभिरुचि बौद्धिक क्षमता बढ़ाने, ज्ञान प्राप्त करने तथा उस प्रक्रिया व प्राप्त ज्ञान पर लगातार संवाद बनाए रखने की हो, जो विप्र यानि बुद्धिमान हो - 'यावद् जीविते अधीयते विप्र:''

उस शिक्षक का जीवन सफल है जिसे कृतकृत्यता की अनुभूति हो, उसे लगे कि शिक्षक के रूप में उसने सार्थक जीवन जीया है। ईशावास्य उपनिषद (मंत्र 17) इसी सार्थक जीवन का स्मरण करवाता है-

''ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर
क्रतो स्मर कृतँ स्मर''

जब यह मेरा देह पंच तत्त्वों में विलीन हो उस समय हे सच्चिदानंद परम सत्ता! यज्ञमयदेव (क्रतो) मेरा जीवन यज्ञमय था (मैंने समस्त ज्ञान बाँट दिया अर्थात् देव ऋण से उऋण हुआ) इसका स्मरण करें। मेरे द्वारा किये गए कर्मों का (कृतम्) स्मरण करें।

राष्ट्रीय अध्यपक शिक्षा परिषद (NCTE) का ध्येय वक्य महाभारत के शांतिपर्व से लिया गया है -

'गुरुर्गुरूतयो धाम:' अर्थात् गुरु मनुष्यत्व से देवत्व की ओर ले जाता है (Humanity to Devinity) अत: देवत्व की सिद्धि के आधार द्रव्य ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) का संग्रह, ब्रह्मचारी को विद्या से जोड़ना महत्त्वपूर्ण कार्य है। तैत्तिरीय उपनिषद (पल्ली-1, अनुवाक-3) में इसका वर्णन है -

''अथाधिविद्यम। आचार्य पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधि:। प्रवचनँ संधानम्। इत्यधिविद्यम्।।''

ऋषि कहते हैं कि अब विद्याविषयक संहिता का प्ररम्भ करते हैं। गुरु पहला वर्ण है अर्थात् विद्यारम्भ का आधार गुरु है। समीप निवस करने वाला शिष्य (अंतेवासी) दूसरा वर्ण है। 'अ' और 'आ' से शुरू करें तो गुरु-शिष्य अनुपात का निर्धारण होता है। 'एक मात्रा' का अंतर! यदि गुरु और शिष्य को क्रमश: प्रथम और द्वितीय वर्ण 'क' व 'ख' के प्रतीक मानें तो ये तीन ब्रह्मवाचक बीज मंत्र बनते हैं - 'ऊँ खं कं'। ये सृजन, पालन और लय के प्रतीक हैं। 'खं' सरस्वती का बीज मंत्र है अत: उपनिषद की यह व्यंजना सार्थक है। इन गुरु-शिष्यों के संयोग का निमित्त क्या है? 'विद्या संधि:' इनमें योग या मित्रता का आधार है - विद्या, शिक्षा। इस संधि का हेतु क्या है? गुरु द्वारा दिया गया उपदेश (शिक्षण, व्याख्यान) इस गुरु-शिष्य संधि का हेतु है। इस प्रकार विद्या विषयक संहिता में गुरु और शिष्य की योजक विद्या है जिसे उपदेश द्वारा गुरु शिष्य में अंतरित करता है।

यदि विद्या गुरु और शिष्य की संधि का आधार है तो शिष्य के प्रवेश की अहर्ता क्या है? अंतेवासी बनने की शर्त क्या है? शिष्य बनने की पात्रता क्या है। नालंदा आदि विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए प्रत्येक द्वार पर परीक्षा होती थी। चीनी चात्री इत्सिंग को नालंदा में प्रवेश मिल जाय इसलिए सुमात्रा की तत्कालीन (671 ई.) राजधानी श्री विजय नगर में छ: माह रहकर संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। आचार्य ब्रह्मचारियों को बुलाने का यज्ञानुष्ठान (आज का विज्ञापन) करते हैं। तैतिरीय उपनिषद (वल्लली-1, अनुवाक-4) में इसका वर्णन है कि 'कपटशून्य, प्रामाणिक ज्ञान को ग्रहण करने वाले, इन्द्रियों की लोलुपता का दमन तथा मन को वश में करने वाले हों। आज की तरह प्रतिशत प्राप्तांक प्रवेश का आधार नहीं है, सद्गुणों के बीज प्रवेश का आधार है। आज कोई ज्ञानवान है इसका अर्थ यह नहीं है कि वह चरित्रवान भी होगा। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि प्राप्तांक की उच्चता शील के शिखर की प्रत्याभूति नहीं है।'

''आभायन्तु ब्रह्मचारिण: स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिण: स्वाहा। प्रभायन्तु ब्रह्मचारिण: स्वाहा। दयायन्तु ब्रह्मचारिण: स्वाहा। शमायंतु ब्रह्मचारिण: स्वाहा।''

ऐसे सद्गुण सम्पन्न आचार्य और संभावना के बीज लिए शिष्य ही समाज में

यशस्वी और वैभव सम्पन्न होने की कामना से साथ आते हैं –

''यशो जनेऽसानि स्वाहा।
श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा।''

जने यशः असानि = लोगों में (मैं) यशस्वी होऊँ।

वस्यसः श्रेयान् असानि = महान धनवानों की अपेक्षा भी अधिक धनवान होऊँ।

इसके लिए जिस प्रकार जल निम्न स्थान से होकर सागर में चले जाते हैं, जिस प्रकार क्रमशः महीने, दिन संवत्सर में लय हो जाते हैं – अर्थात् अपना अस्तित्व विलोपित कर, अहंकार शून्य होकर विराट में आश्रय प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार मेरे पास सब ओर से ब्रह्मचारी आएँ।

''यथाऽऽपः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायंतु सर्वतः स्वाहा।''

हमारे पास आज प्रवेश को नियंत्रित करने का अधिकार नहीं है। प्रवेश के लिए विद्यालय, महाविद्यालय के अपने नियम हैं फिर हम उपनिषद के आह्वान का भाष्य क्या करें। हमारे विषय में प्रविष्ट विद्यार्थियों की बड़ी संख्या में से अपने निर्माण परास में जिनको ले सकते हैं, उस समुच्चय का वृत्त हम खींच सकते हैं। उनमें पात्रता विकसित करने की परिस्थितियाँ हम दे सकते हैं। प्रश्नोपनिषद में जिज्ञासा का उदय, उसके अनुरूप प्रश्नों की उत्पत्ति, पात्र की बिद्धता तथा उत्कण्ठा के परीक्षण का सुंदर वर्णन है। ब्रह्म जिज्ञासा हेतु सुकेशा, सत्यकाम, सौर्यामणी, आश्वलायन, भार्गव और कबंधी – ये छः शिष्य 'समित्पाणि' होकर पिप्पलाद ऋषि के पास गए। पिप्पलाद ऋषि ने उनसे जो कहा वह दृष्टव्य है –

''तुम लोग तपस्वी हो, ब्रह्मचर्य व्रत पूर्वक सांगोपांग वेद पढ़े हैं; तथापि मेरे आश्रम में रहकर एक वर्ष पर्यन्त श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए तपश्चर्या करो। उसके बाद पूछे गए प्रश्नों का उत्तर मुझे आता होगा तो सिस्संदेह तुम्हें बताऊँगा।''

''तान्ह स ऋषिरूवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति।।'' (प्रश्नो. 1-2)

जिसने विद्यालय, महाविद्यालय में राजकीय नियमों से प्रवेश प्राप्त कर लिया उसके प्रवेश की वरीयता सूची में स्थान के लिए आवश्यक प्राप्तांकों हेतु तप तथा उसके लिए इन्द्रिय ऐषणाओं पर नियंत्रण तो किया ही होगा, किंतु गुरु के कृपा-वलय में आने के लिए उपनिषद में तीन अहर्ताएँ अर्जित करने का आग्रह किया है – प्रथम है ज्ञान प्राप्त करने तथा ज्ञान प्रदाता गुरु के प्रति श्रद्धा। श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना समर्पण नहीं हो सकता ओर बिना समर्पण के गुरु खाली नहीं हो सकता, 'जो जो जानता हूँ, बिना गोपन, सब बताऊँगा' की घोषणा नहीं कर सकता। जब प्राप्तव्य और उसके स्रोत के प्रति समर्पित होना है तो अन्य भौतिक और दैहिक आकर्षणों से दूरी का अभ्यास करना पड़ता है यही वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ब्रह्मचर्य व्रत है। इन दोनों की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला उद्योग, युक्ति-प्रयुक्ति के रूप में पुरुषार्थ की पराकाष्ठा का नाम है- तप।

तप अर्थात् अक्षय ध्येय निष्ठा और उस ध्येय की प्राप्ति के लिए अक्लांत, आविश्रांत, सधैर्य प्रयत्न। कच-देवयानी का प्रसंग महाभारत में वणित है। शुक्राचार्य ने मृत संजीवनी विद्या को सिद्ध कर लिया अतः युद्ध में मारे गए असुर पुनः जीवित हो जाते थे। यह विद्या देवताओं के पास नहीं है अतः आसुरी शक्तियों को परास्त करने के उनके सब प्रयत्न विफल हो रहे थे। यह विद्या सीखने का बीड़ा देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच ने उठाया। कच द्वारा यह विद्या प्राप्त करना शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी के कच पर अनुरक्त होने के कारण ही संभव हुई किंतु कच का ध्येय दृढ़ था, उसे देवायानी का आकर्षण मोह पाश में बांध न सका।

दूसरा उदाहरण नचिकेता का है। पिता उद्दालक ने विश्वजित यज्ञ किया जिसमें सर्वस्वदान का संकल्प किया। पिता का सर्वस्व तो संतति है पितादान कर रहे तो गायें और वे भी मरणासन्न या जराग्रस्त। पिता के संकल्प से विपरीत आचरण के कारण इस लोक में निंदा और परलोक में अनिष्ट धाम की प्राप्ति का विधान टालने के लिए नचिकेता ने बार-बार पूछा – ''मुझे किसे दान दे रहे हैं?'' क्रुद्ध पिता ने कहा – 'मृत्यु को।' नचिकेता यम-द्वार पर बिना अन्न-जल ग्रहण किये, यम की प्रतीक्षा में तीन रात्रि बैठा रहता है। तीन दिन प्रतीक्षा के कारण यम नचिकेता को तीन वर प्रदान करता है। प्रथम वर के रूप में नचिकेता पिता का क्रोध शांत होकर पुनः स्नेह प्राप्त करने का तथा दूसरा, अग्नि विद्या का रहस्य जिससे अमरत्व की प्राप्ति हो सके। यम ने दोनों वरों की तत्काल पूर्ति कर दी। तीसरा वर था आत्मा का यथार्थ ज्ञान। इस जिज्ञासा के बदले अनेक भौतिक-अभौतिक विकल्पों के प्रलोभन यम ने दिए किंतु ध्येय निष्ठ नचिकेता ने समस्त आकर्षण ठुकरा कर वह अपनी इच्छित जिज्ञासा पर अडिग रहा। गुरुपूर्णिमा के संदर्भ में कहें तो गुरु और शिष्य दोनों को ही ध्येयनिष्ठ होना चाहिए। गुरु की विद्या प्रदान हेतु तथा शिष्य की विद्या आधान हेतु निष्ठा होने पर ही सार्थक परिणाम होगा।

जे.एन.यू. से लेकर अनेक विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों में कुलपति, प्राचार्य, आचार्यगण के प्रति तथाकथित छात्र नेताओं और उनके अनुयायियों के आचरण को देखकर लगता है हमने गुरु-शिष्य परम्परा के पवित्र सम्बन्ध में व्यवधान उत्पन्न कर दिया है। इस सम्बन्ध के लिए गुरुकुल प्रणाली सर्वोत्तम है किंतु प्रयत्न करें तो आधुनिक समय के शिक्षा-परिसरों में

सन्तों का जीवन दर्शन

डॉ. गीताराम शर्मा

एस.बी.पी.
राजकीय महाविद्यालय,
डूंगरपुर (राज.)

वस्तुतः सन्त जीवन दर्शन पर विमर्श से पूर्व सन्तों का जीवन स्वरूप विषयक अभिमत पर किंचित् विचार प्रासंगिक है। भारतीय मनीषा जीवन को अखण्ड चेतन प्रवाह के रुप में स्वीकार करती है। व्यक्त रुप में परमाणु से ब्रह्माण्ड तक के जीवन में व्यष्टि, समष्टि, नाम, रुप, गुण तथा आकारादि का व्यावहारिक भेद भले ही लक्षित हो लेकिन आधारभूत भेद बिल्कुल नहीं है। बाह्य रुप में विविधता में विराजित विश्व का आधारभूत तत्त्व एक ही आत्मा है। जीवन की एकता और अखण्डता विषयक इस भारतीय धारणा का समर्थन सभी भारतीय दर्शन, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, नृविज्ञान एवं समाजशास्त्रीय विचार प्रणालियाँ करती हैं। ''सर्वं खल्विंदं ब्रह्म'', ईशावास्यमिदं सर्वं.....।, ''सियाराममय सब जग जानी। अथवा सांई के सब जीव हैं.....।'' अथवा ''एक रक्त से सब उपजत हैं.....'' आदि विभिन्न अभिव्यक्तियाँ जीवन के ऐक्य सम्बन्धी अभिमत की साक्षी हैं। भारतीय मनीषा की दृष्टि में जीवन अपनी, समग्रता में परमात्म सत्ता का समस्त आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समुल्लास है। इसलिए जीवन के स्वरूप की व्याख्या देश, काल, व्यक्ति, जाति, गुण, क्रिया, पन्थ आदि व्यष्टिगत विशेषताओं की अपेक्षा उसकी सार्वभौमिक व्यापकता तथा समरसता की दृष्टि से होनी चाहिए। भारतीय विचार में व्यक्ति के निजी जीवन से भी अधिक समाज, राष्ट्र और विश्व का जीवन महत्त्वपूर्ण है। वैश्विक जीवन का भी अभिप्राय केवल मानव समुदाय से नहीं है अपितु मानवेतर समस्त प्राणी समुदाय, उनके आधार भूत समग्र भुवन कोश, सम्पूर्ण प्रकृति, पर्यावरण और पारिस्थितिकी तंत्र विश्व की परिधि में हैं। भारतीय प्रज्ञा का एक विशिष्ट आग्रह यह भी है कि सर्वात्म स्वरूप में अवस्थित जीवन की सुरक्षा का सर्वाधिक दायित्व मनुष्य पर है। इसी दृष्टि से महाभारत में कहा गया है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं – ''न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।'' ''दुर्लभो मानुषो देही।'' अथवा ''बड़े भाग मानुष तन पावा।'' जैसी शास्त्रीय और सांस्कृतिक स्थापनाएँ इसी भाव की ओर संकेत करती हैं कि समग्र जीवन के योग क्षेम के लिए प्रयत्नशील मनुष्य ही सन्त संज्ञा प्राप्त करने का अधिकारी है। भारतीय सन्त परम्परा यह भी मानती है कि एक मात्र मानव जीवन ही ऐसा जीवन है जिसकी निर्मिति सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण में योगदान के लिए हुयी है। इसलिए भारतीय समाज में मानव देह धारी सन्त को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। भारतीय दृष्टि ईश्वर की तरह सन्त के जीवन को भी 'सर्वभूतहिते रतः।' का सर्वोत्तम प्रतिनिधि देखने की आकांक्षी है। 'आत्मवत सर्वभूतेषु' का भाव ही सन्त जीवन दर्शन की कसौटी है। इसी सर्वभूत हित कामना रुप साध्य की व्यावहारिक परिणति के लिए भारतीय सन्त परम्परा पुरुषार्थ चतुष्टय को सर्वोत्तम और अपरिहार्य साधन मानती है। पुरुषार्थ चतुष्टय में भी व्यवस्थित त्रिवर्ग धर्म-अर्थ-काम साधन रुप हैं तथा मोक्ष साध्य है। त्रिवर्ग में भी निष्काम योगी सन्त धर्म को ही वरेण्य मानते हैं। सन्त मत में धर्म जीवन को समग्रता में धारण करने की शक्ति है। धैर्य, क्षमा, मनो निग्रह, अस्तेय, शुचिता, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोधादि धर्म के मूल तत्त्व हैं। धर्म विषयक मूल सभी मत, पन्थ या जीवन

प्रणालियों में सर्वमान्य हैं। अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति दया, सर्वनियामक परम सत्ता में आस्था, चतुर्वर्ग चिन्ता और वैर द्वेषादि मनोभावों से निवृत्ति जैसे गुणों से प्रेरित व्यवहार ही परम धर्म है। सन्त स्वभावत: धर्मनिष्ठ होते हैं। धर्म व्यवहार का प्रायोगिक रूप ही पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में स्वीकृत है। सन्त जीवन दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय के ध्येय से रिक्त मानवीय जीवन बकरी के गले पर उभरते हुए स्तन के समान निरर्थक है –

धर्मार्थकाममोक्षाणां
यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य
जन्म निरर्थकम्।।

भारतीय संस्कृति और समाज में सन्त जीवन को मानवीय जीवन की उत्कृष्टता का आदर्श और समग्र समाज द्वारा अनुकरणीय माना जाता है। उदात्त जीवन की ओर प्रेरित करने वाले गुण धर्म सामाजिक दृष्टि से जीवन मूल्य माने जाते हैं। समस्त भारतीय वाङ्मय शाश्वत जीवन मूल्यों की सुगन्ध से सुवासित है। सन्त जीवन मूल्यों की सुगन्ध से सम्पूर्ण वसुधा को सुरभित करने के लिए कृत संकल्प होते हैं। परम सन्त तुलसीदास कवितावली में इसी संकल्प को इस तरह व्यक्त करते हैं कि –

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपाल-कृपा तैं,
संत सुभाव गहौंगो।
जथालाभ संतोष सदा,
काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर,
मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्त्रवन,
सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन,
पर-गुन, नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह जनित चिंता
दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ
रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो।

अर्थात् तुलसीदास की आकांक्षा प्रभु श्री रघुनाथ से सन्त स्वभाव को ग्रहण करने की है। सन्त स्वभाव के कुछ प्रतिनिधि लक्षण गिनाते हुए वे लिखते हैं – यथा लाभ सन्तोष, सभी से निराकांक्ष अर्थात् अकिंचन रहना, मन कर्म, वचन से परोपकार वृत्ति के नियम का परिस्थिति निरपेक्ष रहकर निर्वहन करना, दूसरों के कटु वचनों को सुनकर भी स्वयं रोष और अपमान की दहकती ज्वाला से मुक्त रहना, मान अपमान से दूर रहकर सम मनोवृत्ति में रहना, पर निन्दा से मुक्त रहना, देह की चिन्ताओं से दूर रहकर सुख दुख मे समबुद्धि रहना तथा देह के इन द्वन्द्वों को सहना जैसे असाधारण और दुर्लभ गुण ही सन्त स्वभाव के लक्षण हैं। इस पद की अन्तिम पंक्ति में तुलसीदास इन्हीं गुणों के समवाय को भक्ति कहते हैं।

विचारणीय है कि इस पद में स्थापित सन्त स्वभाव भारतीय संस्कृति और समाज में न केवल सर्व स्वीकार्य और जीवन दर्शन के मानकों का प्रतिनिधि है, अपितु

सन्त स्वभाव के कुछ प्रतिनिधि लक्षण गिनाते हुए वे लिखते हैं – यथा लाभ सन्तोष, सभी से निराकांक्ष अर्थात् अकिंचन रहना, मन कर्म, वचन से परोपकार वृत्ति के नियम का परिस्थिति निरपेक्ष रहकर निर्वहन करना, दूसरों के कटु वचनों को सुनकर भी स्वयं रोष और अपमान की दहकती ज्वाला से मुक्त रहना, मान अपमान से दूर रहकर सम मनोवृत्ति में रहना, पर निन्दा से मुक्त रहना, देह की चिन्ताओं से दूर रहकर सुख दुख मे समबुद्धि रहना तथा देह के इन द्वन्द्वों को सहना जैसे असाधारण और दुर्लभ गुण ही सन्त स्वभाव के लक्षण हैं। इस पद की अन्तिम पंक्ति में तुलसीदास इन्हीं गुणों के समवाय को भक्ति कहते हैं।

सन्त स्वभाव के पोषक गुणों का क्रम भी यही है। सन्तत्व का प्रथम प्रस्थान बिन्दु सन्तोष और पर्यवसान भक्ति है। यथा लाभ सन्तोष अर्थात् ईश्वर कृपा से जितना भी जीवनवृत्ति मात्र के लिए प्राप्त हो जाय उतने में ही सर्वस्व की अनुभूति। अर्थात् जो प्राप्त है, वह पर्याप्त है। सन्तोष की प्रवृत्ति सम्भव ही तब हो सकती है जब जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण भोगमूलक न होकर योग मूलक हो। सन्त स्वभावत: आप्तकाम होते हैं। अर्थात् उनके लिए कोई भी भोग्य पदार्थ जीवन से बड़ा नहीं होता। सन्त यह जानते हैं कि भोगाकांक्षाएँ जीवन को देह के सुख दुखों की सीमाओं से बांधे रखती हैं। जबकि जीवन स्वाभाविक रुप से मुक्त है। भोग जब साध्य बन जाते हैं तो भोगों को भोगने की तृष्णा बढ़ती जाती है और बढ़ी हुयी तृष्णा के कारण जीवन अपने विराट और वास्तविक ध्येय से भटक जाता है। कहा गया है कि सन्तोष के बिना भोगतृष्णा कभी मिट नहीं सकती –

भोगा न भुक्ता: वयमेव भुक्ता:।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:।।

अर्थात् हमको लगता यह है कि हम भोगों को भोग रहे हैं जबकि वास्तविकता यह है कि हम भोगों को नहीं भोगते अपितु भोग ही हमको भोग लेते हैं। इसी तरह तृष्णा कभी बृद्ध नहीं होती हम ही वृद्ध होते जाते हैं। इसलिए सन्तों के जीवन का आदर्श भोगाशक्ति के विपरीत सन्तोष वृत्ति रहती है। इसलिए सन्त सन्तोष को ही परम धन मानते हैं –

गो धन गज धन बाजि धन,
और रतन धन खानि।
जब आवै सन्तोष धन
सब धन धूरि समान।।

गोस्वामी तुलसीदास ने नवधा भक्ति प्रतिपादन प्रसंग में सन्तोष को भक्ति का एक प्रकार माना है – 'सप्तम यथा लाभ सन्तोषा' अर्थात् सन्तोष रूपी बीज विकसित होकर भक्ति के रूप में फलित होता है। सन्तोष का ही अपर रूप सभी से

निराकांक्ष होना या अकिंचन होना है। अकिंचन अर्थात् किसी से अपने लिए कुछ नहीं चाहना। सन्तों में अकिंचन वृत्ति अद्भुत और असाधारण होती है। यथा – सिद्ध सन्त स्वामी रामकृष्ण परम हंस के जीवन से सम्बद्ध एक संस्मरण है –

रामकृष्ण परमहंस को गले का कैंसर था। जब पानी भी भीतर जाना मुश्किल हो गया तो शिष्य विवेकानन्द अपने गुरुदेव से कहते रहते थे कि 'आप माँ काली से अपने लिए प्रार्थना क्यों नहीं करते हो? क्षणभर की की तो बात है, आप कह दें और गला ठीक हो जाएगा।' रामकृष्ण यह सब सुनते और हँसते रहते, कुछ बोलते नहीं। एक दिन जब बहुत आग्रह किया तो रामकृष्ण ने कहा कि – ''तू समझता नहीं है रे नरेंद्र! अपना किया है, उसका निपटारा कर लेना जरूरी है, नहीं तो उसके निपटारे के लिए फिर से आना पड़ेगा, तो जो हो रहा है उसे हो जाने देना उचित है। उसमें कोई बाधा डालना उचित नहीं।'' तब विवेकानन्द बोले कि – ''कम से कम गला इस योग्य तो रहे कि जीते जी पानी भीतर जा सके, भोजन किया जा सके, हमें बड़ा कष्ट होता है, आपकी यह दशा देखकर।'' रामकृष्ण बोले, चलो आज मैं कहूँगा। दूसरे दिन जब सुबह उठे तो जोर-जोर से हंसने लगे और बोले- ''आज तो बड़ा मजा आया, तू कहता था ना। माँ से कह दो, मैंने कहा माँ से, तो माँ बोली इसी गले से क्या कोई ठेका ले रखा है? दूसरों के भोजन करने में तुझे क्या तकलीफ है?'' हँसते हुए रामकृष्ण बोले ''तेरी बातों में आकर मुझे भी नाहक बुद्धू बनना पड़ा। तू मेरे पीछे पड़ा था ना, और यह बात सत्य है, जाहिर है कि इसी गले का क्या? आज से जब तू भोजन करे तो समझना कि मैं तेरे गले से भोजन कर रहा हूँ।'' उस दिन रामकृष्ण दिन भर हँसते रहे। दिन में डॉक्टर आये और अचम्भित होकर कहने लगे कि आप हँस रहे हैं और शरीर की अवस्था ऐसी। इससे विकट परिस्थिति हो नहीं सकती। रामकृष्ण बोले कि – ''मैं हँस रहा हूँ इसलिए कि मेरी बुद्धि को क्या हो गया? ख्याल ही नहीं आया कि सभी गले अपने ही तो हैं। सभी गलों से अब मैं भोजन करूँगा। एक गले की क्या जिद्द करनी है।'' भाव यह है विकटतम परिस्थिति में भी संत कभी अपने लिए नहीं माँगते, भगवान से भी नहीं। अपने लिए माँगने पर तो सन्तत्व समाप्त हो जाता है। वह रंक को राजा और राजा को रंक भले ही बना दें लेकिन स्वयं फकीर बने रहते हैं। सचमुच आत्मा का जब विश्वात्मा से तादात्म्य हो जाता है, तब अपना पराया कुछ नहीं रहता। इसलिए संत को अपने लिए भोगने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि उनके लिए कोई अभाव होता ही नहीं। स्वयं के लिए निराकांक्षा का विस्तार परोपकार के रूप में होता है। सन्त सदा मन वाणी कर्म से परोपकार के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। पूरी पाञ्चभौतिक प्रकृति उन्हें परोपकार के लिए प्रेरित करती हैं। वे विचार करते हैं कि जब नदियाँ अपने जल का स्वयं पान नहीं करतीं, वृक्ष स्वयं अपने फलों का भक्षण नहीं करते, बादल अपने लिए नहीं बरसते तो मनुष्य का जीवन अपने लिए क्यों हो? सन्तों के लिए इस पर भी तो स्व का विस्तार ही है। इसलिए परोपकार उनके लिए धर्म बन जाता है। तुलसी दास कहते हैं –

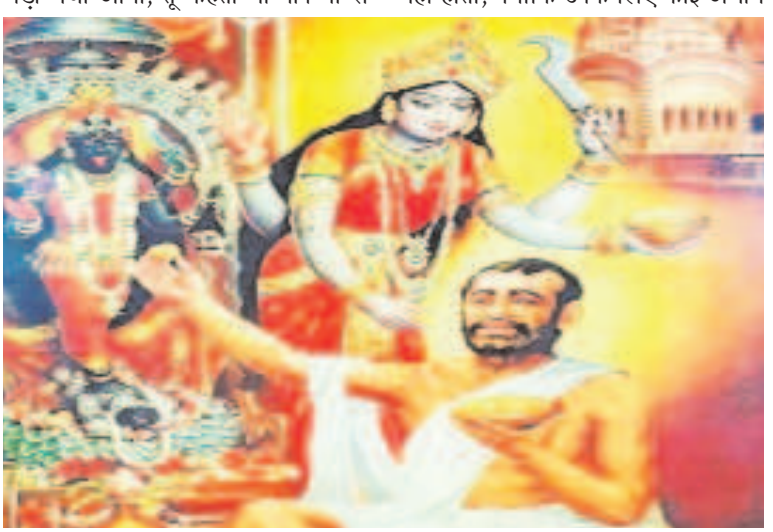

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई।।
पर हित देह तजे जो देही।
सन्तत सन्त प्रशंसहिं तेही।।

वसुधैव कुटुम्बकम् जैसे विराट भाव को हृदय में रमाये बिना अथवा स्वयं के सीमित अस्तित्व को सभी प्राणियों में और सभी प्राणियों के अस्तित्व को स्वयं में अनुभव किये बिना परोपकार वृत्ति होना संभव कहाँ? तुलसीदास कहते हैं कि सन्त हृदय पर पीड़ा में नवनीत से भी अधिक द्रवित होता है –

सन्त हृदय नवनीत समाना।
कहा कविन्ह पर कहा न जाना।।
निज परिताप द्रवै नवनीता।
परदुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता।।

गांधी जी के प्रसिद्ध भजन- ''वैष्णव जन तो तै नें कहिये जो जानै पीर पराई रे।'' में भक्ति की कसौटी ही पर पीड़ा की अनुभूति ही मानी गयी है। सन्त कभी देह और गेहादि की तुच्छ चिन्ताओं से चिन्तित नहीं होते। सन्त श्रीमद्भगवद्गीता के उस महान उपदेश को अपना आचार शास्त्र मानते हैं जो मनुष्य मात्र को सुख दुःखादि के द्वैत से मुक्त होने का आह्वान करता है। युद्ध भूमि में आशा-निराशा, सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय, कुण्ठा, अवसाद, भय, सन्त्रास के बोझ से दब कर युद्ध से पराड़मुख व्यथित और व्यग्र अर्जुन

को जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जिस सुख दुखादि के द्वैत से तुम कर्तव्य विमुख हो रहे हो उनका रहस्य यह है कि ये सुख दु:खादि सर्दी गर्मी की तरह सीमित इन्द्रियों (मात्रा) का स्पर्श मात्र करते हैं विराट आत्मा को नहीं। साथ ही इन सुख दुखादि की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि ये आने जाने वाले हैं। अर्थात् परिवर्तन शील हैं। इसलिए इन सीमित और अस्थायी स्वरुप वाले सुख दु:खों को तू सहन कर –

मात्रास्पर्शास्तु तु कौन्तेय
समशीतोष्ण सुखदु:खदा।
आगमापायिनोऽनित्या: तान्
तितिक्षस्व भारत।।

योग शास्त्र में इसी द्वन्द्व सहिष्णुता को तितिक्षा कहते हैं। सन्त स्वभाव से ही तितिक्षु होते हैं। परम सन्त भर्तृहरि सन्तों की जीवन चर्या का प्रतीकात्मक वर्णन करते हुए कहते हैं कि –

''कभी भूमि मात्र पर ही शयन तो कभी कोमल शैय्या सुलभ हो गयी। कभी स्वल्प शाकाहार ही मिल पाया तो कभी स्वादिष्ट व्यंजन प्राप्त हो गये। पहनने के लिए कभी पुराना वस्त्र मिला तो कभी दिव्य आभूषण और वस्त्र मिल गये। मनस्वी सन्त इन अनुकूलता और प्रतिकूलताओं की परवाह किये बिना अपने कर्तव्य की चिन्ता करते हैं, सुख दुखों की नहीं –

क्वचिद् भूमौ शय्या,
क्वचिदपि च पर्यंकशयनम्।
क्वचिच्छाकाहार: क्वचिदपि
च शाल्योदनरुचि:।।
क्वचिद् कन्थाधारी,
क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति
दु:खं न च सुखम्।।

सदैव सकारात्मक रहना सन्तों के जीवन का स्वाभाविक गुण होता है, इसलिए वे प्रतिकूलताओं में भी अनुकूलता और दोषों में भी गुण खोजने की कला में निष्णात होते हैं। तुलसी दास सन्तों की इस नीर क्षीर विवेचनी वृत्ति की तुलना नीर क्षीर विवेचनी हंस की वृत्ति से करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार हंस दूध और पानी के मिश्रण में से अपने विवेक से दूध और पानी को अलग अलग कर देते हैं, इसी तरह सन्त गुण दोष से मिश्रित संसार में से गुणों को ग्रहण कर दोषों को त्याग देते हैं –

जड़ चेतन गुन दोषमय,
विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय,
परिहरि वारि विकार।।

कबीरदास भी सन्तों की इस गुणग्राही वृत्ति की तुलना सूफ वृत्ति से करते हुए लिखते हैं –

साधू ऐसा चाहिए,
जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै,
थोथा देय, उड़ाय।।

सन्त यह मानते हैं कि जीवन स्वभावत: आनन्द का अजस्र स्रोत है। किन्तु हमारी अपनी दुविधाएँ इस स्रोत की सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। कामायनीकार जयशंकर प्रसाद कहते हैं कि जीवन के स्वाभाविक आनन्द प्रवाह की सबसे बड़ी अवरोधिका व्यक्ति की अपनी दुविधा है –

ज्ञान भिन्न कुछ क्रिया भिन्न,
इच्छा कैसे पूरी हों मन की।
एक दूसरे से मिल न सके,
बस यह बिडम्बना जीवन की।।

सन्त वे हैं जो मन, वाणी और कर्म से सदैव दुविधा मुक्त होते हैं –

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्
कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं
कर्मण्येकं महात्मनाम्।।

परिस्थितियों की दशा और दिशा को स्वानुकूल बनाने की जीवन कला में सन्त निष्णात होते ही हैं। जैसे – विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा, सभा में वाक् कौशल, युद्ध में पराक्रम, सुयशोभिलाषा, विद्या व्यसन सन्तों के स्वाभाविक सिद्ध गुण धर्म हैं –

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम:।
यशस्ति चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

सचमुच, अपने ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ द्वेष, पाखण्ड जैसे मनोविकारों के बोझ तले दबी व्यक्ति मात्र की मानवीय चेतना की मुक्ति का मार्ग इस सन्त जीवन दर्शन के आलोक में ही दिखायी देता है। सन्तों का संसर्ग जीवन की रिक्तताओं को पूर्णताओं से भरने के लिए कामधेनु है। सन्त जीवन दर्शन आलोक में जीवन के दुर्धर्ष अंधेरों को मिटाने की सामर्थ्य होता है। सन्तों के अपरिमित गुण धर्मों का आख्यान तो संभव नहीं किन्तु परम सन्त भर्तृहरि सन्तों के जीवन दर्शन का सार बताते हुए कहते हैं कि –

जिनके मन वाणी और शरीर पुण्यकर्तव्यमय अमृत से आपूरित हैं। जो स्वयंकृत उपकारों से त्रिभुवन को उपकृत करते हैं। दूसरों के परमाणु सम अत्यल्प गुणों को पर्वताकार सदृश विशालता में परिवर्तित कर निज हृदय में सदैव विकसित रहने वाले सन्त आखिर हैं कितने? भाव यह है कि संसार में सन्त जीवन दर्शन का आलोक है तब तक संसार सुरक्षित है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि –

दुर्वार काल स्रोत सबको बहा देगा, सुनहरे अक्षरों में लिखी हुयी पंक्तियाँ भी काल के थपेड़ों को बर्दाश्त करने की शक्ति नहीं रख सकतीं। वही बचेगा जिसे मनुष्य के हृदय में स्थान प्राप्त होगा। सचमुच त्याग, तप, स्नेह, साहचर्य, सौहार्द, समदर्शिता, सह अस्तित्व, सर्वभूत हित कामना, आत्मोत्सर्ग, प्रेम, दया, करुणा, सत्य, अहिंसा, विश्वबन्धुत्व आदि असंख्य उदात्त जीवन मूल्य जिनके हृदय में बसते हैं, वे सन्त संसार में जगद्वन्द्व हैं –

निष्काम कर्म करते रहते जो निशिदिन,
वृत्ति जिनकी सुन्दर ललाम होती है।
जन हित खुशबू बाँटा करते जो जग में,
यह धरती उनसे पूर्ण काम होती है।।❑

गुरु शिष्य संबंध और संत काव्य परंपरा

डॉ.रामावतार मेघवाल
सहायक आचार्य हिंदी
राजकीय कला महाविद्यालय,
कोटा(राज.)

प

भ
म
शि
प
नि
अ
भ
म
ए
ग
म
वि
व
ह

अ
क
स
क
ग
म
है।

म
त
श
अ
‘
‘
क
ह
अ
अ
क
स
क
अ
व
ह
म
ज
ह
ह
अ
इ
क
ऱ
व
क
म
ग
ज
क
म
ए
क
च
स

क ा

सामान्य अर्थों में देखें तो ‘गु’ शब्द का अर्थ है ‘अज्ञानता’ और ‘रु’ शब्द का अर्थ है ज्ञान अर्थात् जो अपने शिष्य को अज्ञानता से ज्ञान की ओर अग्रसर करे वह गुरु होता है। मनुष्य तो जन्म से ही अज्ञानी होता है, अतः उसे इस संसार का अनुभूतिजन्य ज्ञान देने वाली माँ को संसार में प्रथम गुरु माना जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम माँ ही एक पिंड को इस चराचर जगत से परिचित कराती है। उसकी संवेदनाओं का विकास कर उसके अनुभवजन्य ज्ञान को बढ़ाती है? यही पिंड जब मनुष्य का आकार धारण करने लगता है तो वह अपनी इंद्रियों के द्वारा इस संसार से और ज्यादा परिचित होता है। अतः एक बालक के लिए माँ के पश्चात पूरी सृष्टि ही गुरु रूप में होती है क्योंकि इसी संसार में उसे अपने गुरु की प्राप्ति करनी होती है।

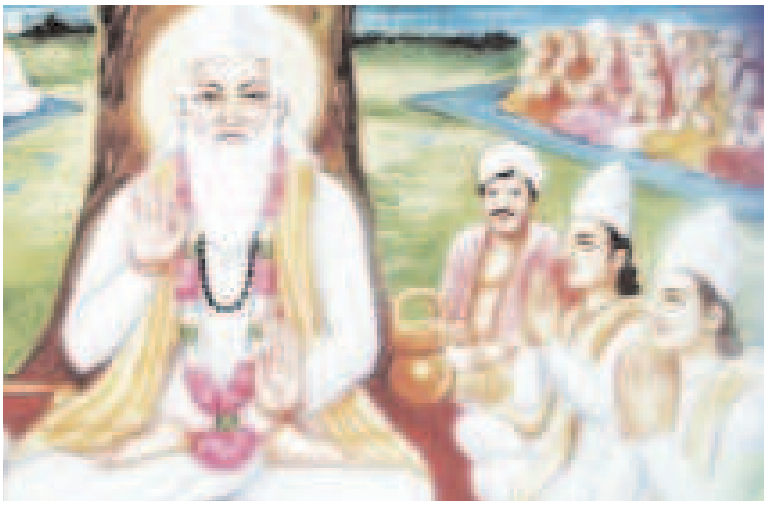

ज
वि
ग
प
स
ब
अ
सि
ह

थी।

ज
च
ह
स
स
य
च
र
जि
प
ग
क
म
ऱ
स
अ
अ
जि
वि

गुरु शिष्य सम्बन्ध और संत परम्परा

राकेश कुमार शर्मा
सह आचार्य, हिंदी
श्री संत सुन्दरदास राजकीय
महिला महाविद्यालय,
दौसा (राज.)

हमारे समाज में संत परम्परा बहुत ही प्राचीन रही है। 'संत' शब्द से अर्थ आम तौर पर एक अच्छे व्यक्ति से लिया जाता है लेकिन इसका विशेष अर्थ मध्यकालीन भारत के संत कवियों से ही लिया जाता है। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में नामदेव और रामानंद नामक प्रसिद्ध संत हुए। संत मत परम्परा के अनुसार रामानंद वैष्णव साधु थे, जिन्होंने उत्तर भारत में भक्ति का सूत्रपात किया। इनके बारे में प्रचलित कहावत है कि- भक्ति द्राविड़ी उपजी लाए रामानंद। रामानंद ने अनंतानंद, सुखानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानन्द, भावानन्द, पीपा, धन्ना, सेन, रैदास, कबीर, पद्मावती, सुरसुरी आदि बारह संतों को अपना शिष्य बनाया। यह शिष्य परम्परा आगे चलकर बहुत समृद्ध हुई तथा जैसा कि हम जानते हैं, हिंदी साहित्य की समृद्ध विरासत में संत परम्परा व संत काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संत काव्य का सूत्रपात मूल रूप से कबीर जी से स्वीकारा जाता है। ज्ञानमार्गी संत परम्परा का प्रारंभ करने वाले संत कबीर ने ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु शिष्य के बीच के अंतर्संबंधों की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की है, लेकिन काव्य में साखी, सबद, रमैनी जो की बीजक के रूप में संकलित है में यत्र तत्र वर्णन किया है। गुरु जब शिष्य को ज्ञान देने के लिए अपनाता है तो उसकी परीक्षा नहीं लेता अपितु जैसा है उसी रूप में स्वीकार करता है और शिष्यत्व प्रदान करने के बाद उसका संस्कार करता है। कबीर जी कहते हैं।

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है, गढ़ी गढ़ी काढै खोट।
अंतर हाथ सहार दे, बाहर बाहे चोट।

संत अपने शिष्य के सभी प्रकार के विकारों को धीरे-धीरे ज्ञान की अग्नि में जलाकर दूर कर देता है और खरा कंचन बना देता है।

कबीर संगत साधु की,
नित प्रति कीजै जाय।
दुरमति दूर बहावसी,
देसी सुमति बताय।

गुरु अपने शिष्य की निरंतर देखभाल व संभाल करते हुए भी उसके अहंकार को पुष्ट नहीं होने देते हैं, जैसे-जैसे शिष्य ज्ञानवान होता है उसमें विनम्रता का सद्गुण आता चला जाता है, गुरु अहंकार से दूर रखने के लिए प्रेरित करते हैं। नानक जी के शब्दों में कहा जाये तो,

नानक नन्हें ह्वे रहो,
जैसे घास में दूब
और घास जल जाएगी,
दूब खूब की खूब।

गुरु अपने शिष्य का लोक और परलोक दोनों बनाने और सुधारने का प्रयत्न करते हैं, उसे लौकिक जीवन जीने का तरीका सिखाते हैं वहीं अलौकिक जीवन पथ पर अग्रसर होने का मार्ग भी बताते हैं, जिसे पाकर शिष्य कृत कृत्य हो जाता है, मानव जीवन प्राप्ति का रहस्य और उद्देश्य समझा कर गुरु आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। शिष्य के जीवन में गुरु का स्थान सर्वोपरि माना जाता है, इस सम्बन्ध में कबीर जी का यह कथन द्रष्टव्य है -

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े
काके लागूं पाएं
बलिहारी गुरु आपने
गोविन्द दियो बताए।

गुरु शिष्य के सारे भ्रम निवारण करके संशय से बाहर निकाल देते हैं। गुरु के महत्त्व को गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने रामचरितमानस में रेखांकित करते हुए लिखा है -

गुरु बिन भव निधि तरई न कोई।
जो विरंचि शंकर सम होई।

जीवन के विविध क्षेत्र में अलग-अलग गुरु होते हैं, गुरुओं के भेद का निरूपण करते हुए कहा गया है -

प्रथम गुरु पितु अरु माता,
जो है रक्तबीज के दाता,
दुसर गुरु भयी वह दाई,
जो गर्भपाश की मैल छुड़ाई,
तीसरा गुरु नाम करण कीन्हा,
चौथा गुरु जो शिक्षा दीह्ना,
तब संसारी मारग चीह्ना,
पाँचवां गुरु जो दीक्षा दीह्ना,
रामकृष्ण का सुमिरन कीह्ना,
छठवा गुरु भरम जो तोडा,
ओंकार से नाता जोड़ा,
सातवाँ गुरु सत सबद लखावा,
जहाँ का जीव तहां पहुचावा,
गुरु गुरु में भेद है, गुरु गुरु में भाव
सतगुरु सोई बंदिये
जो सबद लखावे दाव।

जीवन में सच्चा गुरु परमात्मा के अनुग्रह से मिलता है इस सम्बन्ध में कबीर जी कहते हैं -

ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या
सो जिन बिसरी जाई
जब गोविन्द कृपा करि,
तब गुरु मिलिया आई।

गुरु कैसा होना चाहिए और शिष्य कैसा हो इसकी चर्चा करते हुए कबीर जी कहते हैं -

जाका गुरु भी अंधला,
चेला खरा निरंध
अंधे-अंधा ठेलिया,
दुन्यूं कूप पडंत।

सच्चे सतगुरु की खोज का आह्वान करते हुए लिखा है कि-

जब तक गुरु मिले नहीं सांचा

तब तक गुरु करो दस पांचा।

और जब सद्गुरु से भेंट हो जाए तो शिष्य को क्या करना चाहिए इसका निर्देश देते हुए कहा गया है कि–

जब तोहे सतगुरु मिल जाए पूरा
उन चरणन की हो जा धूरा।

संसार में गुरु तो अनेक प्रकार के होते हैं लेकिन आत्मकल्याण का मार्ग बताने वाले सद्गुरु का अपना महत्त्व होता है ,जब ऐसा सद्गुरु मिल जाये तो शिष्य को अपना सर्वस्व गुरु के चरणों में समर्पित करने का निर्देश दिया गया है।

गुरु और शिष्य दोनों को लालच रहित होना चाहिए अगर ऐसा नहीं होता है तो शिष्य और गुरु की क्या गति होती है। कबीर जी कहते हैं –

ना गुरु मिल्या न सिष भया,
लालच खेल्या दाव
दुन्यूं बूड़े धार मैं,
चढ़ी पाथर की नाँव।

जीवन में सद्गुरु के मिल जाने पर भी शिष्य का कल्याण हो ही जाये कोई जरुरी नहीं हैं क्योंकि शिष्य लोक और माया के प्रभाव से बचा रह जाए बहुत मुश्किल है, ऐसे माया के दासों की चर्चा करते हुए कबीर जी कहते हैं –

माया दीपक नर पतंग,
भ्रमि भ्रमि इवै पडंत
कहे कबीर गुरु ग्यान थें,
एक आध उबरंत।

संत परंपरा के सभी कवि रचनाकारों ने गुरु के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। भक्तिमति मीरा ने संत रैदास जी को गुरु के रूप में पाकर कहा है –

पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु,
किरपा करि अपनायो।

ज्ञान को सतत आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाने का कार्य इसी परंपरा के अंतर्गत संपन्न होता है जिसमें व्यक्ति परम्परागत प्राप्त ज्ञान को अगली पीढ़ी को देता चलता है और यह परंपरा लगातार बनी रहती है।

गुरु परंपरा में गुरु अपने शिष्य को सद्मार्ग दिखाकर मंजिल तक पहुँचने में मार्गदर्शक की भूमिका में होता है वहीं शिष्य को भी गुरु द्वारा बताये गए मार्ग पर चलकर गुरु के आदेशों निर्देशों की पालना में लगना चाहिए ताकि उसे उसके उद्देश्य की प्राप्ति हो सके।

संत मत में संतों की लम्बी परंपरा विकसित हुई है जो कबीर जी से लेकर रैदास जी, नानकदेव जी, गुरुगोविंद सिंह जी से होते हुए दसम गुरु तक जाती है वहीं संत दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास से मीराबाई, सहजोबाई तक सतत देखने को मिलती है। संत पीपाजी अपने शिष्यों को बुराई से बचने का निर्देश देते हुए कहते हैं –

पीपा पाप न कीजै,
अलगो रहीजै आप
करेगो सो भरेगो,
कुण बेटा कुण बाप।

संत काव्य का सूत्रपात मूल रूप से कबीर जी से स्वीकारा जाता है। ज्ञानमार्गी संत परम्परा का प्रारंभ करने वाले संत कबीर ने ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु शिष्य के बीच के अंतर्संबंधों की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की है, लेकिन काव्य में साखी, सबद, रमैनी जो की बीजक के रूप में संकलित है में यत्र तत्र वर्णन किया है। गुरु जब शिष्य को ज्ञान देने के लिए अपनाता है तो उसकी परीक्षा नहीं लेता अपितु जैसा है उसी रूप में स्वीकार करता है और शिष्यत्व प्रदान करने के बाद उसका संस्कार करता है। कबीर जी कहते हैं।

कृत कर्म का फल व्यक्ति को स्वयं भोगना होगा, अत: मनुष्य को दुर्गुणों से दूर रहकर सद्गुणों, सद्कर्मों की ओर प्रेरित करने का कार्य संतों ने निरंतर किया है।

ध्यानमूलं गुरुमूर्ति,
पूजा मूलं गुरु पदम।
मन्त्र मूलं गुरु वाक्यं,
मोक्ष मूलं गुरु कृपा।

इस कथन को अपने जीवन का आधार स्वीकारने वाली हमारी सनातन परंपरा में गुरु का स्थान अद्वितीय और अनुपम है। गुरु भव बंधन से मुक्ति का उपाय बताते हैं और लोक धर्म के पालन की शिक्षा भी देते हैं। संसार के सभी रिश्ते–नाते, सगे–संबंध स्वार्थ के होते हैं, लेकिन गुरु शिष्य का सम्बन्ध निस्वार्थ भाव का होता है, शिष्य की कल्याण कामना ही गुरु के जीवन का लक्ष्य होता है, जिस प्रकार भगवान् की शरणागति पर वह परमात्मा शरणागत के योग क्षेम का दायित्व अपने पर ले लेता है ठीक उसी प्रकार शिष्य भी गुरु का शिष्यत्व ग्रहण कर लेता है तो गुरु उसे अभयदान की घोषणा करता है –

गुरु को माथे राखिए,
चलिए आज्ञा माहीं
कहे कबीर ता दास को,
तीन लोक भय नाहीं।

गुरु को शिष्य के सभी प्रकार के शोक और दुखों का हरण करने वाला होना चाहिए –

हरहिं शिष्य धन, शोक न हरहीं
सो गुरु घोर नरक में परहीं।

सद्गुरु की महिमा का गुणगान करते हुए कबीरदास जी कहते हैं –

सद्गुरु की महिमा अनंत,
अनंत किया उपकार
लोचन अनंत उघाडिया,
अनंत दिखावन हार।

अत: कहा जा सकता है कि गुरु शिष्य का संबंध बहुत ही निर्मल और निस्वार्थ होता है। ❑

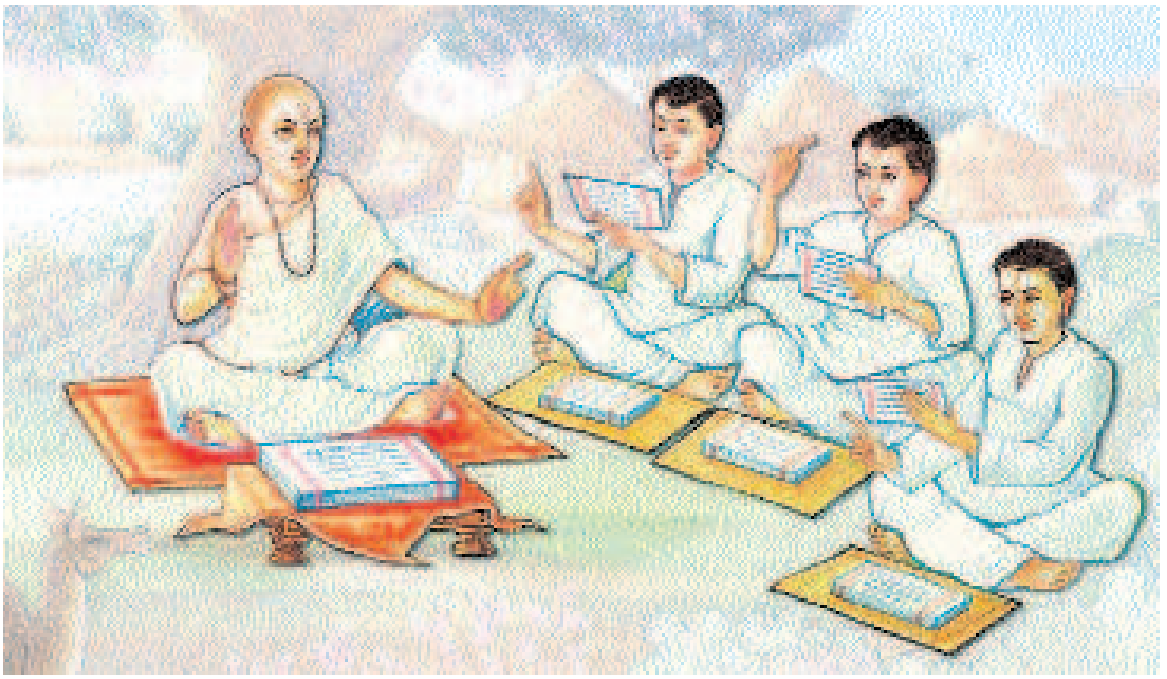

गुरु में अनंत के दर्शन और संत परंपरा

डॉ.श्रीमती यदु शर्मा
प्राचार्य एस.एस जैन सुबोध महिला शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, जयपुर

भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊपर माना गया हैं।

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः,
गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परम् ब्रह्मा
तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

'गु' शब्द का अर्थ है अंधकार (अज्ञान) और 'रु' शब्द का अर्थ हैं प्रकाश (ज्ञान)। अज्ञान को नष्ट करने वाला जो ब्रह्म रूप प्रकाश हैं वह गुरु हैं। संत परम्परा में गुरु शिष्य परम्परा का निर्वहन आश्रमों में सादगी पूर्ण जीवन व आचरण के साथ होता था। शिष्य गुरु की सम्पूर्ण छत्रछाया में अपने व्यक्तित्व का सर्वांगींण विकास अपनी क्षमताओं व सामर्थ्य के अनुरूप करता था।

भारतीय इतिहास में गुरु की भूमिका समाज को सुधार की ओर ले जाने वाले मार्गदर्शक के रूप में भी रही। संत समाज द्वारा समय समय पर समाज में फैल रहे अंधविश्वास, कुरीतियों व आडंबरों से समाज को मुक्त करने के लिए जन चेतना जाग्रत करने के कार्य भी किये गये। सुंदर सभ्य मानवीय सद्गुणों पर आधारित समाज निर्माण में संतों की साखियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही जैसे कबीर की अमृतवाणी, रसखान के दोहे आदि।

संत परम्परा में गुरु व शिष्य के संबंधों का आधार था गुरु का ज्ञान, मौलिकता और नैतिक बल, शिष्यों के प्रति स्नेह भाव तथा ज्ञान बाँटने का निःस्वार्थ भाव। इसी प्रकार शिष्यों में गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा, गुरु की क्षमता में पूर्ण विश्वास तथा गुरु के प्रति पूर्ण समपर्ण एवं आज्ञाकारिता। अनुशासन, संयमित जीवन व आचरण शिष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण व विशेषता थी।

भारत में ज्ञान व शिक्षा आदिकाल से ऋषि मुनियों या संतों द्वारा दी गई गुरु शिष्य परंपरा पर आधारित थी इसीलिए आज भी उस परंपरा को संजोने की कोशिश चल रही है जो कि देश की संस्कृति का अहम हिस्सा है। इस परंपरा की कीर्ति और भूमिका का संपूर्ण विवरण हमारे शास्त्रों में मिलता है।

संत परम्परा के अनुसार केवल गुरु शिष्य का रिश्ता सबसे पवित्र माना गया है व इस जगत में सबसे अधिक खरा माना गया है। गुरु शिष्य संबंध केवल आध्यात्मिक स्वरूप के होते हैं जिससे 'शिष्य का लक्ष्य मेरा उद्धार हो' व गुरु का लक्ष्य 'शिष्य का उद्धार होना चाहिये' पर आधारित होता है। गुरु शिष्य का नाता जन्म, आयु, स्थान आदि के आधार पर न होकर ज्ञान व साधना वृद्धि पर आधारित होता है। संत परम्परा में गुरु

एवं शिष्य में भिन्नता देखना निम्न स्तर का लक्षण माना जाता था। वास्तव में नारायण चराचर सृष्टि में विधमान हैं अत: प्रत्येक प्राणी का स्वरूप समान ही हैं अर्थात् नर में ही नारायण है संत साहित्य में पुस्तकीय ज्ञान के प्रति अस्वीकृति का भाव रहा है, संतों ने पुस्तक ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया है 'पोथी पढ़ पढ़ जग मुवा पंडित भया न कोय'। संतों के अनुसार केवल अक्षर ज्ञान के स्थान पर शिष्यों को जीवन के व्यावहारिक ज्ञान को आत्मसात करने का प्रयास करना चाहिए। संतों के अनुसार ज्ञान प्राप्ति में विवेक और चिंतन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। विचार के अनुरूप आत्मानुभूति होती है और वैराग्य के अभाव में ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं होता। ज्ञान के लिए विवेक को बहुत आवश्यक मानते हुए विवेकी शिष्यों को ऐसे जौहरी कहा गया है जो हरि रूपी हीरे को पहचान कर अपने जीवन में आनंद का अनुभव करते हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए संतों ने शिक्षार्थी के मन और जीवन को सरल बनाने के लिए ज्ञानार्थी के चित्त को क्लेश व अहंकार जैसी ग्रंथियों से मुक्त रखते हुए योग साधना के माध्यम से अभ्यास पर बल देते हुए ज्ञानार्जन पर बल दिया है। संत साहित्य के अनुसार गुरु शिष्य परंपरा के अंतर्गत मन के विकारों और उनसे उठने वाली माया मोह जैसी बुराइयों पर नियंत्रण रखते हुए प्रेम, करुणा, दया, संतोष आदि के माध्यम से अलौकिक जगत को समझने का प्रयास करें। संतों के अनुसार शिक्षा में जब हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हैं तो जीवन के तत्त्वों के विश्लेषण से ही संतुष्ट हो जाते हैं और ऐसी दशा में शिक्षा दर्शन का जन्म नहीं होता सांस्कृतिक उन्नयन भी इस दृष्टिकोण से सीमित होता है सच्ची संस्कृति व वर्तमान तत्त्वों से ऊपर आध्यात्मिक चिंतन तक उठना चाहिए तभी सही मायने में शिष्य का जीवन ज्ञान रूपी प्रकाश से आलोकित एवं सुवासित हो सकता है। संतों के अनुसार गुरु शिष्य का संबंध ज्ञान आधारित होना चाहिए अर्थात गुरु शिष्य के संबंध में प्रत्येक पक्ष की तार्किक विवेचना, अमूर्त चिंतन करने की क्षमता व प्रत्येक समस्या का सही समाधान प्राप्त करने की योग्यता होनी चाहिए। साथ ही गुरु शिष्य संबंध में नीति साधना और आध्यात्मिक पक्ष की निर्णायक भूमिका होनी चाहिए ताकि किसी भी प्रकार का चिंतन किए जाने पर विशुद्ध वैज्ञानिक परिणामों की प्राप्ति की जा सके। गुरु शिष्य संबंध जाति, वर्ण, संप्रदाय, धर्म देश आदि के भेदभाव से मुक्त होने चाहिए। गुरु शिष्य संबंध की दृढ़ता में एक दूसरे के प्रति सरलता, सहजता, उदारता, निश्छलता व अपनत्व भाव की भी निर्णायक भूमिका होती है। भवसागर में डूबते हुए शिष्य को अपने कृपा दान से बचाना गुरु का प्रथम कर्तव्य होता है। अपने शिष्य के ज्ञान चक्षु को अनंत दर्शन की दिव्य दृष्टि प्रदान करने का कार्य भी एक संत गुरु के द्वारा ही किया जाता है अर्थात् वह ज्ञान को दीपक के रूप में इस प्रकार से प्रस्तुत करता है जिसकी बाती कभी भी समाप्त नहीं होती। शिक्षक अपने विद्यार्थी में उन गुणों को विकसित करता है जिससे कि वह सत्य, संतोष, धैर्य साहस जैसी क्षमता को धारण कर अपने जीवन को सुंदर बना पाने में सक्षम होता है।

संत परम्परा के अनुसार केवल गुरु शिष्य का रिश्ता सबसे पवित्र माना गया है व इस जगत में सबसे अधिक खरा माना गया है। गुरु शिष्य संबंध केवल आध्यात्मिक स्वरूप के होते हैं जिससे 'शिष्य का लक्ष्य मेरा उद्धार हो' व गुरु का लक्ष्य 'शिष्य का उद्धार होना चाहिये' पर आधारित होता है। गुरु शिष्य का नाता जन्म, आयु, स्थान आदि के आधार पर न होकर ज्ञान व साधना वृद्धि पर आधारित होता है। संत परम्परा में गुरु एवं शिष्य में भिन्नता देखना निम्न स्तर का लक्षण माना जाता था।

कर्तव्य परायणता का भाव अपने शिष्य में विकसित करने का कार्य गुरु द्वारा ही किया जाता है। अच्छा गुरु वही है जो कि अपने विद्यार्थी की अंतर्निहित शक्तियों को समुचित दिशा में प्रस्फुटित व विकसित करे व उसके जीवन को समाज उपयोगी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करें। तभी सही मायने में संतों के अनुसार गुरु शिष्य संबंधों की सार्थकता परिलक्षित होती है वर्तमान में गुरु शिष्य संबंध आध्यात्मिकता के स्थान पर व्यवसायिकता पर आधारित होते जा रहे हैं जिस कारण गुरु में गुरुत्व का अभाव है और शिष्य में ग्रहण करने की क्षमता का अभाव है जिसका परिणाम समाज में गुरु अब जीविकोपार्जन के लिये शिक्षक बनकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री करते जा रहे हैं और शिष्य केवल ज्ञान के माध्यम से पैसा कमाना हीअपना ध्येय मान रहे हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुन: गुरु शिष्य सबन्ध संत परम्परा पर आधारित किये जाने से भारत पुन: स्वंय को विश्व गुरु के रूप में प्रस्थापित कर पाने में सफल हो सकेगा। ❑

संस्कृत वाङ्मय में गुरु शिष्य संबन्ध

डॉ. विजेन्द्र सिंह
सहायक आचार्य,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान,
जेएनयू (दिल्ली)

भारतीय ज्ञानपरंपरा में संस्कृत भाषा का वैशिष्ट्य सर्वविदित है। वहाँ भी वैदिक ज्ञान सभी विधाओं का आश्रयस्थल अथवा आधारस्तंभ है। अद्यावधि वैदिक ज्ञान का संरक्षण एक परंपरा से होता आया है, जिसे श्रुति परंपरा कहा गया। अत: वेदों का एक अभिधान श्रुति भी है। यह श्रुति परंपरा अनादि काल से प्रवहमान थी। इसका प्रचलन तभी तक रहा जब तक आचार्य-शिष्य अथवा गुरु-शिष्य परंपरा अपने यथार्थ स्वरूप में रही। जैसे जैसे इस गुरु-शिष्य परंपरा में विकृति उत्पन्न हुई, वैसे वैसे यह श्रुति परंपरा विलुप्त होती चली गई। आज इस सामाजिक एवं नैतिक ह्रास के युग में जिस बात का ध्यान सभी सुधीजनों का होना चाहिए वह है स्वस्थ गुरु-शिष्य परंपरा। इस परंपरा के अभाव के कारण ही आज के इस आधुनिक समाज में नैतिकता एवं मानवता का अभाव दिखाई दे रहा है। भौतिकवाद के इस दौर में हमारी शिक्षा व्यवस्था का ध्येय अथवा उद्देश्य केवल भौतिक वस्तुओं एवं सुख सुविधाओं की प्राप्तिमात्र रह गया है, जो कि कथमपि सर्वहितकारी नहीं हो सकता है। हमारा शिक्षा का उद्देश्य प्राचीन वैदिक शिक्षा पद्धति में 'सा विद्या या विमुक्तये' होता था जिस का विलोप इस शिक्षा पद्धति में हो गया है। जब इस शिक्षा का उद्देश्य ही परिवर्तित हो गया, तब समाज में विकारों की स्थिति तो स्वत: ही आ जाती है। आज शिक्षा का उद्देश्य 'सा विद्या या नियुक्तये' बन गया है। जिससे केवल भौतिकवाद एवं भोगवाद को ही बढावा मिल रहा है। इस पत्र में स्वस्थ गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का स्वरूप क्या होता है, यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है, एवं भारतीय संत परंपरा क्या है? यह भी निरूपित किया गया है। आइए सर्वप्रथम हम यह जानते हैं कि गुरु शिष्य का स्वरूप हमारे शास्त्रों में क्या बताया गया है –

संस्कृत वाङ्मय में गुरु को अनेक

नामों से संबोधित किया गया है। उनमें आचार्य, उपाध्याय, उपदेष्टा, व्याख्याता आदि अनेक नाम आए हैं। इन नामों में एक नाम आचार्य भी आया है, जिसको परिभाषित करते हुए आचार्य यास्क निरुक्तशास्त्र में कहते हैं कि '**आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा**' अर्थात् आचार्य वह होता है जो शिष्य को आचरण अथवा आचार सिखाये। क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, यह बतलाना आचार कहलाता है। यहाँ दूसरा अवधेय बिन्दु यह है कि आचार्य विद्यार्थी के मन में पदार्थों के बोध का संचय कराता है एवं तीसरा अवधेयांश यह है कि आचार्य विद्यार्थी में बुद्धिशक्ति को उत्पन्न करता है। इसका यह अर्थ हुआ कि आचार्य शिष्य की बुद्धि का वर्धापन एवं संचालन करता है, उसे सत्य मार्ग बताता है एवं गलत मार्ग से रोकता है। इस निरुक्त वचन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय में जो शिक्षा की परिकल्पना में गुरु है, वह इससे सर्वथा भिन्न है। आज के गुरु का शिष्य के साथ आत्मिक संबंध नहीं है। शिष्य के विषय में गुरु कुछ नहीं जानता है। गुरुकुल परंपरा में इससे विपरीत आचार्य प्रत्येक ब्रह्मचारी के विषय में विशेष ज्ञान रखता है। उसके सर्वांगीण विकास की परिकल्पना को साकार करता है।

अब हम इस बात पर भी विचार कर लेते हैं कि शिष्य किसे कहते हैं? शिष्य शब्द संस्कृत के शासु अनुशिष्टौ इस धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है अनुशासन। अर्थात् जो गुरु अथवा आचार्य के अनुशासन में रहे वह शिष्य कहलाता है। शिष्य में ग्रहण एवं धारण करने की क्षमता होनी चाहिए तथा अनुशासन पालन का सामर्थ्य होना चाहिए। आज का शिष्य स्वच्छंद है। उसमें इन सब आवश्यक बातों का अभाव देखने को मिलता है। वैदिक शिक्षा पद्धति में शिष्य के अनुशासन के कारण ही उसमें आत्म बल, शरीर बल, मनोबल एवं बुद्धि बल की प्रचुरता होती थी, जिससे वह किसी भी परिस्थिति में पथ से विचलित नहीं होता था। आज के शिष्य की तरह आत्महत्या जैसे निंदनीय कृत्य को मानस में भी नहीं लाता था। आज यदि किसी विद्यार्थी को थोड़ा भी डांट फटकार दिया जाए तो वह आत्महत्या जैसे कुकृत्य कर बैठता है। इसके पीछे का कारण गुरुकुल परंपरा का विलुप्त हो जाना है। यह तथ्य सभी शिक्षाविदों द्वारा चिंतनीय है।

अब हम आचार्य एवं शिष्य के संबंध पर किंचित दृष्टिपात करते हैं। भारतीय सनातन परंपरा में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत सोलह संस्कारों का प्रावधान है। उनमें एक संस्कार उपनयन संस्कार है। जिसमें अचार्य शिष्यों का चयन करके उनका उपनयन संस्कार करता है। उपनयन का अर्थ है समीप लाना। तो यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस के समीप लाना? तो कहा जाता है कि आचार्य के समीप लाना अथवा शास्त्र के समीप लाना। अर्थात् बालक सांसारिक पदार्थों का त्याग करके आचार्य के समीप शिक्षा ग्रहण करने व आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये जाता है। वह शिष्य जब आचार्य के पास जाए तो किस प्रकार जाये यह वेदान्तसार में कहा गया है- उपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति '**समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् इत्यादिश्रुतेः।**' शिष्य उपहारपाणि होकर वेद के विद्वान् ब्रह्म में स्थित गुरु का अनुसरण करे।

उपनयन संस्कार के पश्चात आचार्य उसे अपने निरीक्षण में रखता है एवं उसका अपने आश्रम में पोषण करता है जैसा कि वेद मंत्र में भी कहा कहा गया है -

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं
कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रिस्तिस्रः उदरे बिभर्ति तं
जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गर्भ अर्थात् आश्रम में रखता है एवं उसका

संस्कृत वाङ् मय में गुरु को अनेक नामों से संबोधित किया गया है। उनमें आचार्य, उपाध्याय, उपदेष्टा, व्याख्याता आदि अनेक नाम आए हैं। इन नामों में एक नाम आचार्य भी आया है, जिसको परिभाषित करते हुए आचार्य यास्क निरुक्तशास्त्र में कहते हैं कि 'आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा' अर्थात् आचार्य वह होता है जो शिष्य को आचरण अथवा आचार सिखाये। क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, यह बतलाना आचार कहलाता है। यहाँ दूसरा अवधेय बिन्दु यह है कि आचार्य विद्यार्थी के मन में पदार्थों के बोध का संचय कराता है एवं तीसरा अवधेयांश यह है कि आचार्य विद्यार्थी में बुद्धिशक्ति को उत्पन्न करता है।

पालन पोषण करता है तथा उसे अनेक शास्त्रों में पारंगत करता है। वह ब्रह्मचारी तृतीय श्रेणी का आदित्य ब्रह्मचारी होता है जिसे देखने के लिये देवगण आते हैं। शिष्य का अपर पर्याय ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी का ही दूसरा नाम अंतेवासी भी है क्योंकि वह आचार्य के अंत:पुर में निवास करता है। आचार्य उपनयन संस्कार में शिष्य को उपदेश करता है – सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य देवो भव। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। आचार्य इन सभी को देव स्वरूप बताते हुए उनके सम्मान करने का उपदेश करते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद में गुरु व शिष्य के संबंध को पुष्ट करते हुए कहा गया है कि आचार्यः पूर्वरूपं। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्। अर्थात् आचार्य पूर्व रूप होता है व ब्रह्मचारी उत्तर रूप, इन दोनों के बीच की संधि विद्या है। इस संधि का संधान प्रवचन से होता है। यहाँ गुरु एवं शिष्य का संबंध बताया गया है। यहाँ अंतेवासी शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे आचार्य एवं शिष्य विद्या समाप्ति तक एक साथ रहते हैं।

गुरु एवं शिष्य का व्यवहार अथवा कार्य कैसा हो यह उपनिषद वाक्य बताता है –

ओम् सहनाववतु सह नौ
भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधितमस्तु मा विद्विषावहै॥

यहाँ आचार्य एवं शिष्य दोनों ही प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे परमेश्वर! हमारी गुरु एवं शिष्य दोनों की आप रक्षा करें, हम दोनों साथ-साथ भोजन करें, साथ-साथ बल व पराक्रम को बढ़ावें, हम साथ-साथ तेजस्वी होवें एवं हम दोनों में परस्पर द्वेष ना हो। यहाँ इस उपनिषद वचन से आचार्य एवं शिष्य का जो यथार्थ संबंध होना चाहिए, वह यथार्थरूप में वर्णित है। कठोपनिषद में भी यम व नचिकेता के आख्यान से गुरु एवं शिष्य के संबंध को ही स्पष्ट किया गया है।

यहाँ नचिकेता यम आचार्य का शिष्यत्व स्वीकारते हुए कहता है कि –

येयं प्रेते विचित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके
नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥

यमाचार्य नचिकेता की परीक्षा करते हुए अनेकविध प्रलोभन देते हुए कहते हैं कि देवों ने भी इस विषय को जानने का प्रयास किया पर वे जान ना सके। अतः तुम और कोई वर मांग लो। तब नचिकेता का दृढ़निश्चय दिखता है –

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्तास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्यः एतस्य कश्चित्॥

शिष्य को नचिकेता एवं आचार्य को यम की तरह होना चाहिए। यह बात इस उपनिषद कथा से सामने आती है। यमाचार्य नचिकेता को कहते हैं कि–

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। अर्थात् उठो जागो एवं श्रेष्ठजनों के समीप विद्याग्रहण करो। यह गुरु-शिष्य परम्परा का द्योतक वाक्य है।

गुरु एवं शिष्य के घनिष्ठ संबंध का ध्यान हमें इसी तथ्य से हो जाता है कि प्रत्येक शिष्य अपने गुरु के नाम से ही पुकारा जाता है। जैसा कि पाणिनि के शिष्य पाणिनीय कहलाते थे। गुरुकुल में

गुरु व शिष्य के साथ रहने से संबंधों में मधुरता आती है। वर्तमान समय में इस परंपरा का अभाव है जिस पर सभी लोगों को विचार करने की आवश्यकता है।

सन्त परम्परा

भारतीय ज्ञानसरणी में संतों का योगदान अविस्मरणीय है। संतों का कार्य हमेशा लोककल्याण की भावना से ओत-प्रोत रहता है। भारतीय ज्ञान की धाराएँ असंख्य हैं, उन ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करने एवं सातत्य बनाये रखने में भारतीय संतों का अवदान सदैव अविस्मरणीय रहेगा। इन संतों का ध्येय हमेशा समाज व राष्ट्र के कल्याण का रहा है, चाहे ये संत किसी भी परम्परा का अनुसरण करते हों। संतों के कार्य एवं साहित्य से इनकी लोककल्याण की भावना का हमें पता चलता है। ऐसे ही संतों में कुछ संतों के कार्य एवं साहित्य का निदर्शनमात्र यहां प्रस्तुत किया जाता है –

जगद्गुरु शङ्कराचार्य– आचार्य शंकर का जन्म दक्षिण भारत में केरल के कालडी नामक स्थान पर हुआ। आचार्य शंकर का 32 वर्ष की आयु में ही निर्वाण हो गया था। आचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर शारीरिक भाष्य लिखा जिस पर आज भी लोग अनुसन्धान कर रहे हैं। 32 वर्ष के इस अल्पकाल में उन्होंने पूरे भारत का भ्रमण कर भारत को एक सूत्र में पिरोने के लिये चारों दिशाओं में पीठ की स्थापना की एवं प्रत्येक पीठ में एक वेद की स्थापना कर दी। पूर्व दिशा में जगन्नाथ पुरी में ऋग्वेद, दक्षिण दिशा में रामेश्वरम् में यजुर्वेद, पश्चिम में द्वारिकापुरी में सामवेद व उत्तर में शारदापीठ (कश्मीर) में अथर्ववेद को प्रतिष्ठित किया। इस तरह आचार्य शंकर ने वेदों के उद्धार का कार्य किया एवं सम्पूर्ण भारत को एकता का संदेश दिया।

रामानुजाचार्य – रामानुजाचार्य भी वेदान्तदर्शन के आचार्य थे जिन्होंने श्री सम्प्रदाय का संचालन कर ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को स्थापित किया। हाल ही में रामानुज सहस्राब्दी समारोह भी मनाया गया। आचार्य रामानुज ने भेदभाव का विरोध करते हुए देश को एक होने का सन्देश दिया।

मध्वाचार्य – इन्होंने द्वैतवाद की स्थापना करते हुए ब्रह्मसूत्र पर पूर्णप्रज्ञ भाष्य लिखा एवं ब्रह्म एवं जीव की सत्ता को पृथक्-पृथक् स्वीकारा। बैंगलूरु में मध्ववेदान्त पर शोध हेतु अन्तरराष्ट्रीय शोध संस्थान भी है। तत्कालीन समाज में राष्ट्रीय भावना का संचार करने का श्रेय आचार्य मध्व को ही जाता है।

निम्बार्काचार्य – निम्बार्काचार्य दक्षिण भारत के आन्ध्रप्रदेश के निवासी थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर वेदान्तपारिजात नामक भाष्य लिखकर द्वैताद्वैत मत की स्थापना की। ईश्वर, जीव, जगत् एवं माया के विषय में अद्भुत विवेचन आचर्य निम्बार्क द्वारा प्रस्तुत किया गया एवं सामाजिक सौहार्द का सन्देश दिया।

भक्ति युग में भी अनेक ऐसे संत हुए जिन्होंने जनजागृति के साथ-साथ पर्यावरण संरक्षण जैसे संवेदनशील विषयों पर आज से कई वर्षों पहले लोगों को सजग कर दिया था। आज पर्यावरण संरक्षण एक वैश्विक समस्या बन कर सामने आया है जिसके विषय में इन संतों ने पहले ही सचेत किया था। इस प्रकार सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में इन संतों का कार्य एवं शिक्षाएँ चिरकाल तक स्मरणीय रहेंगी। ❑

संतों का समाज दर्शन

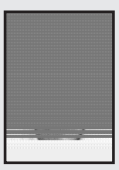

प्रो. प्रकाश चंद्र अग्रवाल

प्राचार्य क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, भुवनेश्वर (ओडिशा)

संत शब्द की व्युत्पत्ति श्री पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने शांत शब्द से मानी है, जिसका अर्थ निवृत्ति मार्ग या वैरागी है। इस संबंध में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है- संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने संत रूपी परम तत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो संत स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही संत है।

सच्चे संत जाति, धर्म, मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि, दायरो से परे होते हैं। संतों के संदेशों के द्वारा अज्ञान, निद्रा में सोए हुए समाज के बीच निष्काम कर्म की प्रेरणा जाग्रत कर समाज को सही मार्ग दिखाने का कार्य किया जाता रहा है। धार्मिक असहिष्णुता छुआछूत, जातिगत भेदभाव, राग-द्वेष आदि संतो के संदेशो से दूर किए जा सकते हैं।

संतों के कथन, काव्य और साहित्य का जनमानस पर व्यापक असर होता है, तथा वह सामाजिक जनचेतना, क्रांति और परिवर्तनों को जन्म देते हैं। प्राचीन समय में जन समाज में कई विकृतियाँ फैलने लगी तब आद्य गुरु शंकराचार्य जी ने अपने शिष्यों के साथ भारत के कोने-कोने में घूमकर सनातन धर्म व अद्वैत ज्ञान का प्रचार किया। यवनों के आक्रमण के समय सम्पूर्ण हिन्दू-समाज त्रस्त था तब योगी गोरखनाथ जी ने समाज में धर्म प्रतिष्ठा व अध्यात्म का प्रचार-प्रसार किया। 11वीं व 12 वीं शताब्दी में श्री रामानुजाचार्य जी ने वेदांत भक्ति का भारत भर में प्रचार किया।

मध्यकाल में जब समाज अनेक बुराइयों से ग्रस्त था। धार्मिक कट्टरता और संकीर्णता के कारण समाज का सन्तुलन बिगड़ रहा था। कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का बोलबाला था तथा सामाजिक विषमता बढ़ती जा रही थी। इस समय ऐसे महात्मा संतों तथा समाज सुधारकों की आवश्यकता थी जो समाज में व्याप्त इन बुराइयों पर निर्भीकतापूर्वक प्रहार कर सकें एवं विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में बिना किसी भेदभाव के सदाचरण का उपदेश देकर सामाजिक एकता तथा समरसता की स्थापना करें।

ऐसे समय अनेक संत कवियों यथा कबीर, दादू दयाल, गुरु नानक, रैदास, सुंदर दास, मलूक दास, रज्जब आदि की रचनाओं तथा काव्य का जनमानस पर गहरा प्रभाव हुआ ऐसे समय संतों की जीवन परक दृष्टि उनकी सामाजिक तथा वैचारिक चेतना को उजागर करती है। वे अपनी रचनाओं के माध्यम से जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास कराते हैं। साथ ही साथ इसमें एक ऐसी संश्लिष्ट सामाजिक सांस्कृतिक चेतना की

अभिव्यक्ति होती है जिसके फलस्वरूप जीवन-मूल्य को नई गरिमा एवं महिमा प्राप्त होगी। अतएव उनके उदारों में जीवनानुभूति, स्वानुभूति तथा सहानुभूति का अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है। संत कबीर बड़े ही स्पष्ट शब्द में कहते हैं -

तू कहता कागद की लेखी मैं
कहता अँखियन की देखी।।

मध्यकाल में समाज में वैचारिक क्रांति के जो प्रयास हुए उसे इतिहास में भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है। भक्तिकाल की समय-सीमा विक्रम संवत् 1375 से विक्रम संवत् 1700 तक मानी जाती है। भक्तिकाल में भक्ति की सगुण एवं निर्गुण धाराएँ काफी विकसित हुईं। सगुण भक्ति धारा के अंतर्गत राम एवं कृष्ण का भक्ति काव्य आता है तो निर्गुण के अंतर्गत संत काव्य एवं सूफी काव्य आता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संत काव्य को निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे निर्गुण भक्ति काव्य तथा डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसे संत काव्य परम्परा नाम से अभिहित किया है। अत: संत काव्य से हमारा अभिप्राय उस काव्य से है जिसकी रचना संत कवियों के द्वारा मध्यकाल में की गई है।

भक्तिकाल के संत औपचारिक शिक्षा के अभाव के बावजूद देश भर में भ्रमण के दौरान जीवन-जगत के प्रति अनुभवी बन गए थे। संत विभीन्न धर्मावलंबियों में एकता के लिए ईश्वर की ओर से भेजे गए फरिश्तों के समान थे। समस्त संतों की रचनाओं में यह परिभाषित होता है।

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त पर जोर दिया तथा उन्होंने उपनिषद के आप्त वाक्य तत्वमसि को आधार बनाया। उनका मानना था सभी धर्मों का ध्येय एक ही है। अत: धर्म का आधार नहीं छोड़ना चाहिए। उनका मानना था ईश्वर सभी में व्याप्त है, मनुष्य में भी ईश्वर है। अत: मानव मात्र की सेवा जीवन का मुख्य ध्येय होना चाहिए और शिक्षा का उद्देश्य अतनिहित पूर्णता की अभिव्यक्ति होना चाहिए। शिक्षा के द्वारा नैतिक आध्यात्मिक एवं बौद्धिक विकास करते हुए विश्वबन्धुत्व का विकास किया जाना चाहिए।

विभीन्न जातियों तथा धर्मों सौहार्द व सामाजिक समरसता जितना सशक्त प्रयास भारतवर्ष में मध्यकालीन संतों के द्वारा किया गया है वैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। जैसे- दुई जगदीश कहां ते आया। कहु कौन भरमाया। संतों ने आत्म निरीक्षण के साथ-साथ परिस्थिति विशेष को भी महत्त्व दिया था। जिसके कारण वे सिर्फ कवि या रचयिता ही नहीं बल्कि समाज सुधारक और दार्शनिक भी बन गए थे। मुख्यत: समाज एवं साहित्य परस्पर परिपूरक हैं। अत: प्रयोजन की दृष्टि से समाज एवं समाज में निवास करने वाली जनता का हित करना है; जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण भक्तिकाल के संत एवं उनकी रचनाएँ हैं। भक्तिकालीन संत कवि से ज्यादा समाज सुधारक हैं। तत्कालीन समाज में व्याप्त, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, जाति-पाँति भेद-भाव के प्रति कट्टर विरोध करके संतों ने क्रांतिकारी परिवर्तन किया है।

जाति पाँति पूछै नाहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।। संतों की दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य बराबर है। इसलिए उन्होंने समाज में अन्याय का विरोध किया, भेदभाव की खुलकर निन्दा की और सामाजिक साम्यवाद की आवाज उठाई।

संतों के विचारानुसार ईश्वर तथा ब्रह्म निर्गुण-निराकार है और वह घट-घट में व्याप्त हैं। उस समय की धार्मिक अशांति के निदान में संतों ने ईश्वर के अनंत-अरूप तत्व का समाज में प्रचार-प्रसार किया। जिसके दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं - जाके मुँह माथा नहीं, नाहिं रूप कुरूप पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप।। कस्तूरी कुंडली बसे, मृग ढूंढे वन माहिं। ऐसे घटि घटि राम हैं, दुनिया देखे नाहिं।।

संतों की रचनाओं में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक प्रबल है। इन्होंने जन-सामान्य में आत्म गौरव की दीप्ति भर दी थी, जिसके फलस्वरूप हर प्रकार के अन्याय-अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। प्राय:

सभी संतों ने रूढ़ियों, मिथ्याडंबरों तथा तमाम अंधविश्वासों की कटु आलोचना की है।

सभी संतों ने ज्ञान के साथ-साथ प्रेम की महत्ता को भी समझा था। वे सदैव ही समाज में प्रेम और सद्भाव की स्थापना करने के पक्ष में थे। ज्ञान और प्रेम का अद्भुत समन्वय संतों में देखने को मिलता है। वे ढाई अक्षर प्रेम की वाणी को लेकर चलने वाले थे।

मूलत: समाज को स्वस्थ एवं सुगठित करने में संतों का योगदान अतुलनीय है। उनके द्वारा प्रचारित सामाजिक दर्शन आज भी प्रासंगिक है। सभी संतों ने अपनी वैयक्तिकता से ऊपर उठकर समाज को अधिक महत्त्व दिया। उनके विचार, दर्शन, नैतिक मूल्यों का अनुसरण कर कोई भी समाज पावन और समृद्ध हो सकता है।

संत एवं उनके काव्य तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विषमताओं का सटीक उपचार है। उन्होंने मनुष्य, जीवन तथा जगत के समस्त पहलुओं को अपने काव्य में स्थान दिया है। वे वैयक्तिकता की सीमा को लांघकर समाज में स्थित जनता तक पहुँच गए। उनका सामाजिक दर्शन शास्त्र ज्ञान से ऊपर उठकर आत्मज्ञान से होते हुए अनुभूतिप्रवण और भावनात्मक बन पाया है। भक्तिकालीन सभी संत तथा उनके दर्शन, विचार एवं नैतिक मूल्य प्रत्येक युग में प्रासंगिक हैं।

अंग्रेजों ने लम्बे समय तक भारत पर शासन किया उनका मुख्य लक्ष्य अंग्रेज भक्त गुलाम मानसिकता के भारतीयों को पैदा करना था अत: शिक्षा का संरचनात्मक ढाँचा उन्होंने अपने अनुरूप विकसित कर लिया। इससे हमारी प्राचीन सांस्कृतिक, नैतिक व शैक्षिक मूल्यों में परिवर्तन आए जिससे प्राचीन शिक्षा व मूल्यों का लोप होने लगा।

ऐसे समय महात्मा गाँधी, विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, राजाराममोहन राय आदि अनेक ऐसे महापुरुषों व सन्तों का जन्म हुआ जिन्होंने हमारी भारतीय शिक्षा व मूल्यों को पुन: पहचान दी।

महात्मा गाँधीजी की वर्धा शिक्षा योजना या बुनियादी शिक्षा के द्वारा वे भारतीयों को स्वावलम्बी तथा शारीरिक व मानसिक दृष्टि से सशक्त बनाना चाहते थे। गाँधीजी दिमाग को हाथों द्वारा प्रशिक्षित करना चाहते थे उन्होंने बुनियादी शिक्षा में उद्योग द्वारा शिक्षण, बालक के जीवन से सम्बद्ध शिक्षा पर जोर दिया जो अनिवार्य व निशुल्क हो शिक्षा को मातृभाषा के माध्यम से सुलभ करवाने पर उनका बल रहा। श्री महर्षि अरविन्द एक महान दार्शनिक थे। उन्होंने मनुष्य के आध्यात्मिक विकास पर बल दिया जिसमें योग व ब्रह्मचर्य का विशेष अर्थ था। उनका मानना था योग का अर्थ कठिन साधना, प्राणायाम अथवा कठिन आसनों का अभ्यास मान नहीं है बल्कि निष्काम भाव से ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण है। श्री अरविन्द का मानना था कि शिक्षा के द्वारा चित्त, मनस, बुद्धि एवं ज्ञान का विकास किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षा का कार्य बालक का बौद्धिक व नैतिक विकास करते हुए आध्यात्मिक विकास में सहायक बनना है।

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त पर जोर दिया तथा उन्होंने उपनिषद के आप्त वाक्य तत्वमसि को आधार बनाया। उनका मानना था 'सभी धर्मों का ध्येय एक ही है। अत: धर्म का आधार नहीं छोड़ना चाहिए।' उनका मानना था, 'ईश्वर सभी में व्याप्त है, मनुष्य में भी ईश्वर है। अत: मानव मात्र की सेवा जीवन का मुख्य ध्येय होना चाहिए और शिक्षा का उद्देश्य अतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति होना चाहिए। शिक्षा के द्वारा नैतिक आध्यात्मिक एवं बौद्धिक विकास करते हुए विश्वबन्धुत्व का विकास किया जाना चाहिए।'

श्री राजाराममोहन राय ने समाज में व्याप्त सती प्रथा, बाल विवाह जैसी कुरीतियों पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास किया। सतीप्रथा को गैरकानूनी करार दिया और इनसे सम्बद्ध कानून पास करवाए। हिन्दू समाज की कुरीतियों के घोर विरोधी होने के कारण 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। सन 1829 में लार्ड विलियम बेंटिक की अगुवाई मे राजाराम मोहन के प्रयासों द्वारा सती प्रथा पर भारत में पूरी तरह से रोक लगादी गयी।

इस प्रकार हमारे देश में सामाजिक सुधारों एवं चेतना में संतों के दर्शन का अद्वितीय योगदान रहा है। ❑

आधुनिक कृष्णावतार चैतन्य महाप्रभु (1468-1533) बर्बर इस्लामिक हिंसा व मतान्तरण के काल में न केवल हिन्दू को संगठित रखा वरन हिंदुत्व समय-समय पर विधर्मी हुए हिन्दू समाज की घर वापसी भी की है। वे शंकर मत के अद्वैत संन्यासी बने थे, लेकिन बाद में बल्लभाचार्य के भक्तिमार्ग के शिष्य बन स्वयं कृष्णभक्ति में सराबोर होकर समाज में भी संगठित नव चेतना के अग्रदूत बन गए। वे एक ऐसे योद्धा संन्यासी थे कि भय उनके निकट आता ही नहीं था। वे बर्बर इस्लाम की चुनौती बनकर उभरे और हिन्दू समाज के अंदर व्याप्त भय को विनष्ट कर हिन्दुओं को अभय महामंत्र दिया।

सन्त परम्परा एवं आदर्श समतामूलक राष्ट्रजीवन

प्रो. भगवती प्रकाश

समूह अध्यक्ष
आयोजना व अनुसंधान
पेसिफिक विश्वविद्यालय
समूह, उदयपुर (राजस्थान)

राष्ट्र जीवन के विकास और हमारे सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों के सृजन में देश के सन्तों की शीर्ष भूमिका रही है। भक्ति मार्ग के आदि प्रवर्तक नारद ऋषि से लेकर मध्य युग व आधुनिक काल पर्यन्त सन्तों का राष्ट्र में सुशासन स्थापना से लेकर समतामूलक उच्च जीवन आदर्शों के संवर्द्धन में प्रभावी भूमिका रही है। देश में धर्मरक्षा पूर्वक स्वाधीनता आंदोलन भक्ति मार्गी सन्तों मध्यकाल के अरबी-तुर्की आक्रमणों, औपनिवेशिक साम्राज्यवाद एवं मिशनरी मतान्तरणों के विरुद्ध एक दुर्भेद्य दीवार बनकर अनिर्वचनीय योगदान किया है।

भक्ति मार्ग के उपदेशक नारद ऋषि की सुशासन की शिक्षा

भक्ति सूत्र के रचयिता नारद ऋषि ने भक्ति मार्ग का सूत्रपात करने के साथ ही उच्च जीवन आदर्शों एवं सुशासन के सूत्रों का उपदेश किया है। महाभारत में युधिष्ठिर की राजसभा में 123 प्रश्नों के माध्यम से उन्होंने समग्र सुशासन के सिद्धान्तों का अत्यन्त विस्तृत प्रतिपादन किया है, वह इसका अच्छा उदाहरण है। युधिष्ठिर को नारद प्रदत्त 123 शिक्षाओं में से कुछ अग्रानुसार हैं ''निष्पाप युधिष्ठिर! क्या तुम राजोचित छः गुणों के द्वारा सात उपायों की, अपने और शत्रु के बलाबली तथा देशपाल, दुर्गपाल आदि चौदह व्यक्तियों की भलीभाँति परख करते रहते हो? अपने धन और कोष की वृद्धि के लिये आठ कर्मों का सेवन करते हो? भरतश्रेष्ठ! तुम्हारी मन्त्री आदि सात प्रकृतियाँ कहीं शत्रुओं में मिल तो नहीं गयी हैं? तुम्हारे राज्य धनी लोग बुरे व्यसनों से बचे रहकर सर्वथा तुम से प्रेम करते हैं न? रात्रि के पिछले भाग में जगकर अपने अर्थ (आवश्यक कर्तव्य एवं हित) के विषय में विचार तो करते हो न? तुम्हारे राज्य के किसान-मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे सन्तुष्ट तो हैं? भरतश्रेष्ठ! जो लोग तुम्हारे हित में सहर्ष मृत्यु का वरण कर लेते हैं अथवा भारी संकट में पड़ जाते हैं, उनके परिवारों की रक्षा तुम करते हो न? चोरों, लोभियों, राजकुमारों या राजकुल की स्त्रियों द्वारा अथवा स्वयं तुमसे ही तुम्हारे राष्ट्र को पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है? क्या तुम्हारे राज्य के किसान संतुष्ट हैं? क्या तुम्हारे राज्य के सभी भागों में जल से भरे हुए बड़े-बड़े तालाब बनवाये गये हैं? केवल वर्षा के पानी के भरोसे ही तो खेती नहीं होती है? तुम्हारे राज्य के किसान का अन्न या बीज तो नष्ट नहीं होता? क्या तुम प्रत्येक किसान पर अनुग्रह करके उसे सुगम ब्याज पर ऋण देते हो? राजन! क्या तुम्हारे जनपद

के प्रत्येक गाँव में शूरवीर, बुद्धिमान और कार्य कुशल पाँच-पाँच पंच मिल कर सुचारू रूप से जनहित के कार्य करते हुए सबका कल्याण करते हैं?''

धर्मयोद्धा सन्यासी चैतन्य महाप्रभु द्वारा समाज संगठन

आधुनिक कृष्णावतार चैतन्य महाप्रभु (1468-1533) बर्बर इस्लामिक हिंसा व मतान्तरण के काल में न केवल हिन्दू को संगठित रखा वरन हिंदुत्व समय- समय पर विधर्मी हुए हिन्दू समाज की घर वापसी भी की है। वे शंकर मत के अद्वैत संन्यासी बने थे, लेकिन बाद में बल्लभाचार्य के भक्तिमार्ग के शिष्य बन स्वयं कृष्णभक्ति में सराबोर होकर समाज में भी संगठित नव चेतना के अग्रदूत बन गए। वे एक ऐसे योद्धा संन्यासी थे कि भय उनके निकट आता ही नहीं था। वे बर्बर इस्लाम की चुनौती बनकर उभरे और हिन्दू समाज के अंदर व्याप्त भय को विनष्ट कर हिन्दुओं को अभय महामंत्र दिया।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।।

यह महामंत्र पन्द्रहवीं सदी का मानो राष्ट्र मंत्र हो गया। भक्ति राष्ट्रभक्ति में परिणत हो गई। बिहार, बंगाल और उड़ीसा, उत्तरप्रदेश में जेहादी आक्रमणों के विरुद्ध राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा की थी।

आचार्य शंकर का आसेतु हिमाचल में एकता का सन्देश

आचार्य शंकर ने अरबी-तुर्की आक्रमणों के प्रारम्भिक दौर में आठवीं सदी में पूर्व से पश्चिम व उत्तर से दक्षिण तक एक राष्ट्र का भाव जगाने हेतु चार धाम की स्थापना एवं समस्त वीतरंगी हुए साम्राज्यों को पुनः पराक्रम के पथ पर अग्रसर किया था। समाज शिक्षण हेतु दशनामी सन्त सम्प्रदाय की पुनर्प्रतिष्ठा की थी।

समरसता के अग्रदूत रामानुजाचार्य

आठवीं सदी से आरम्भ में हुए जेहादी आक्रमणों के बाद उपजी भेदभाव व अस्पृष्यता की प्रवृत्ति के विरुद्ध समरसता का संस्कार देते हुए 1017 में जन्में संत रामानुजाचार्य ने ग्यारवीं सदी मे समस्त जातियों विशेषकर विभेद के शिकार समुदायों को अष्टाक्षरमंत्र 'ऊँ नमोनारायणाय' में दीक्षित कर सभी उपेक्षित जातियों के परिजनों के लिए 'हरिजन' शब्द प्रयोग किया था समरसता का भाव जागरण किया था।

स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्र पुनर्जागरण

परमहंस राम कृष्णदेव के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य जगत को भारतीय हिन्दू संस्कृति की गहराइयों से परिचित कराया, उन्नीसवीं सदी की साम्राज्यवादी अहमन्यता जनित मिशनरी मतांतरण की बाढ़ को रोका और अभावग्रस्त लोगों की सेवा के बड़े-बड़े प्रकल्प प्रवर्तित किये।

स्वदेशी, स्वतंत्रता एवं धर्म रक्षा के सेनानी गोविन्द गुरु

स्वामी दयानन्द सरस्वती व अन्य संत मर्यादापुरुषों के सान्निध्य में रहे गोविन्द गुरु ने सम्पूर्ण जीवन लोक जागरण और सेवा के लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, दमन व शोषण से जूझ रहे समाज को उबारने के लिए राजस्थान, गुजरात व कुरीतियों, दमन व मध्यप्रदेश के सरहदी दक्षिणांचल वागड़ को कर्म स्थल बनाया और लोकचेतना का शंख फूँका। इसके लिए उन्होंने स्वदेशी, मिशनरी मतान्तरण का विरोध एव आध्यात्मिक संस्कारों की त्रिवेणी का सम्पूर्ण दक्षिण राजस्थान, मध्यप्रदेश व गुजरात के जनजातीय क्षेत्रों में प्रसार किया।

असंख्य सन्तों की समयोचित अमृत वृष्टि का दौर

देश में अरबी व तुर्की जेहादी आक्रमणों के आरंभिक दौर से ही भक्ति मार्गी आलवारों, नायनारों सहित आदि शंकराचार्य व चैतन्य महाप्रभु से चले भक्ति आंदोलन में परमहंस रामकृष्ण देव, स्वामी विवेकानंद व गोविन्द गुरु पर्यन्त लाखों सन्तों ने 7वीं सदी से अनवरत समाज को संगठित कर विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध एक दीवार के रूप में खड़ा करने में अप्रतिम योगदान दिया है। आधुनिक काल में सत्रहवीं सदी में समर्थ गुरु रामदास (शिवाजी के गुरु) एवं 19वीं सदी में परमहंस रामकृष्ण देव और गोविन्द गुरु सन्तों ने सत्संस्कारों के प्रवर्तन के साथ समरसता व राष्ट्र रक्षा के भावों के दृढ़ीकरण के जैसे अविस्मरणीय कार्य किए हैं। रामानुज (1017-1137) बासव (12वीं सदी), माधवाचार्य (1238-1317) नामदेव (1270-1309), एकनाथ, संत ज्ञानेश्वर (1275-1296), बाबा राम देव जी (रुणीजा) (1352-1385), जयदेव (12वीं सदी), निम्बार्काचार्य (13वीं सदी), रामानंद (15वीं सदी), कबीरदास (1440-1510), दादूदयाल (1544-1603), गुरुनानक (1469-1538), पीपाजी (15वीं सदी), पुरन्दर (15वीं सदी), तुलसीदासजी (1532-1623), चैतन्य महाप्रभु (1486-1534), शंकरदेव (1449-1569)। गुरु नानक देव से गुरु गोविन्द सिंह तक 10 सिख गुरुओं का बहुआयामी योगदान ही सिख सम्प्रदाय का आधार रहा है। गुरु नानक देव से गुरु गोविन्द सिंह पर्यन्त दस गुरुओं का गुरुमत प्रसार, सशस्त्र युद्ध एवं बलिदान भी अपूर्व शौर्य का उदाहरण था। बन्दा सिंह बैरागी के धर्म रक्षार्थ सशस्त्र संग्राम व आत्मबलिदान का अन्य कोई उदाहरण मिल पाना कठिन है। वल्लभाचार्य (1479-1531) एवं वल्लभ सम्प्रदाय के संघर्ष, सूरदास (1483-1563), मीराबाई (1498-1563), हरीदास (1478-1573), तुकाराम समर्थ रामदास, त्यागराज, रामकृष्ण परमहंस (1836-1886), गोविन्दगुरु (1858-1931) की भूमिका भी अकथनीय रही है। इनके अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द की दिग्जयी यात्राएँ और सायणाचार्य जैसे विद्वानों का शास्त्र व शास्त्र साधना का अप्रतिम योगदान रहा है। सायणाचार्य ने जहाँ 14वीं सदी में वेदों पर भाष्य भी लिखा और 14 वर्ष तक विजयनगर साम्राज्य के प्रधान सेनापति व महामात्य रहकर तुर्कों को भी परास्त किया। ❑

भक्त कवियों का सांस्कृतिक अवदान

प्रो. रसाल सिंह

अधिष्ठाता-भाषा संकाय,
जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय

मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से भक्तिकाव्य हिंदी भाषा की ही नहीं, बल्कि सभी भारतीय भाषाओं की चामत्कारिक उपलब्धि है। यह लोकरक्षण और लोकरंजन की भावभूमि का लोकधर्मी काव्य है। भाव और भाषा का अद्वितीय संस्कार और अभूतपूर्व विस्तार इस कविता का प्रदेय है। यह काव्य भारतीय समाज और भाषाओं के परिष्कार का सांस्कृतिक आयोजन है। यह विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा थोपी जा रही सांस्कृतिक दासता के खिलाफ समस्त भारतीय भाषाओं का समन्वित उद्घोष है।

कम-से-कम तीन आंदोलनों ने सम्पूर्ण भारत को प्रभावित और आंदोलित किया है। ये तीन आन्दोलन भक्ति आन्दोलन, पुनर्जागरण आन्दोलन और स्वाधीनता आन्दोलन हैं। इन तीनों आंदोलनों का स्वरूप, स्वभाव और प्रभाव अखिल भारतीय रहा है। ये तीनों आन्दोलन भारतीयता के मूल्यबोध से प्रभावित और प्रेरित रहे हैं। भारतीयता से प्रभावित इन आंदोलनों ने भारतीयता को परिपुष्ट भी किया है।

भक्ति आन्दोलन मध्यकालीन अंधकार का सांस्कृतिक प्रतिरोध और प्रतिकार है। विदेशी आक्रान्ताओं के पददलन के प्रतिरोध स्वरूप भारतीय चिन्ताधारा नयी चेतना और नयी ऊर्जा के साथ भारतीयता का पुनराविष्कार करती है। साथ ही, समाज को चेतना के स्तर पर संगठित भी करती है। यह सांस्कृतिक जागरण और संगठन विषम परिस्थितियों में भारतीयता को बचाए रखने का जतन है। यह जतन कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से कामरूप तक स्पष्ट दिखायी पड़ता है। शंकराचार्य, रामानन्द, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, लल्लेश्वरी, सहजोबाई, नानकदेव, रैदास, रज्जब, पीपा, श्रीमंत शंकरदेव, माधवदेव, रसखान, चंडीदास, नामदेव, चैतन्य महाप्रभु, जयदेव आदि संत/भक्त इस मध्यकालीन सांस्कृतिक क्रांति के सूत्रधार हैं। इन्होंने अपने-अपने ढंग से भारतीय समाज की चेतना का परिष्कार किया। सनातनी संस्कृति का सर्वोत्तम इन सांस्कृतिक योद्धाओं का पाथेय है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' जैसी सर्वकल्याण कामना और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सर्वसमावेशी भावना भक्तिकाव्य की उद्गमस्थली है। वेद, वेदांत, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत गीता भक्तिकाव्य के उपजीव्य हैं। पंडित दीनदयाल उपाध्याय की ही तरह

व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि की एकात्मता पर आधारित भक्त कवियों के चिंतन का मूलस्रोत सनातन संस्कृति और मूलप्रेरणा 'अन्त्योदय' है। एकात्मता पर आधारित यह चिंतन विद्वेषी, विभाजनकारी और विध्वंसात्मक शक्तियों से संघर्ष के लिए सर्वाधिक उपयोगी है। मध्यकालीन अँधेरे में बर्बर और कट्टर घात-प्रतिघातों और कुटिल चालों के बावजूद सनातन संस्कृति की अक्षुण्णता इन क्रांति-चेता संतों की साधना का ही सुफल है।

धर्मांतरण के रक्तरंजित दबावों और चमचमाते प्रलोभनों से जूझते समाज के अन्दर अपने धर्म के प्रति गौरव जाग्रत करते हुए इन्होंने भारत की सनातन संस्कृति के संरक्षण और संवर्द्धन की उल्लेखनीय परियोजना चलायी। हतभाग्य और पददलित समाज के अंदर आत्मविश्वास और एकता पैदा करते हुए भारतीयता की प्राणरक्षा की। धर्मप्राण भारतीय समाज के मन और चिन्तन में परमात्मा की पुनर्प्रतिष्ठा महनीय कार्य था। पाशविकता के बरक्स मनुष्यता और भौतिकता के बरक्स आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा इस परियोजना की मूलप्रेरणा रही है। इस काव्य में सामाजिक संशोधन और उन्नयन की चिंता केंद्रीभूत है। मनुष्यभाव

भक्ति आन्दोलन मध्यकालीन अंधकार का सांस्कृतिक प्रतिरोध और प्रतिकार है। विदेशी आक्रान्ताओं के पददलन के प्रतिरोध स्वरूप भारतीय चिन्ताधारा नयी चेतना और नयी ऊर्जा के साथ भारतीयता का पुनराविष्कार करती है। साथ ही, समाज को चेतना के स्तर पर संगठित भी करती है। यह सांस्कृतिक जागरण और संगठन विषम परिस्थितियों में भारतीयता को बचाए रखने का जतन है। यह जतन कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से कामरूप तक स्पष्ट दिखायी पड़ता है।

और भारतबोध इस काव्य की धमनियों में आद्योपांत धड़कते पाये जाते हैं। भक्तिकाव्य में उदात्त मानव-मूल्यों की सार्वजनीन और सार्वभौमिक उपस्थिति है।

भक्ति आन्दोलन भारत की सांस्कृतिक एकात्मता को भी आधार प्रदान करता है। 'म्लेच्छाक्रान्त देशेषु' को 'निसिचरहीन' करने के प्रण का परिणाम यह काव्य भारतीय समाज की सांस्कृतिक स्वाधीनता का भी संकल्प-पत्र है। गोस्वामी तुलसीदास ने भक्तिकाव्य की महत्ता और मूल-प्रेरणा को स्पष्ट किया है -

जब-जब होहि धरम की हानी।
बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।
तब-तब धरि प्रभु विविध सरीरा।
हरहिं दयानिधि सज्जन पीरा।।

तुलसीदास अपने आराध्य मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की केंद्रीय प्रतिज्ञा के माध्यम से आक्रांताओं और आततायियों के विरुद्ध अपने और अन्य भक्त कवियों के सांस्कृतिक संघर्ष की घोषणा करते हैं-

निसिचरहीन करहु महि
भुज उठाय पण कीन्ह।
सकल मुनिन के आश्रमहिं
जाइ-जाइ सुख दीन्ह।।

श्रीराम और उनके तीनों भाइयों के चरित्र-निर्माता गुरु वशिष्ठ रहे हैं। बालक राम को मर्यादा पुरुषोत्तम राम बनाने में गुरु वशिष्ठ और गुरु विश्वामित्र की महती भूमिका है। ऐसे आकाशधर्मा गुरुओं से शिक्षा-दीक्षा और संस्कार पाकर ही राम ऐसी लोककल्याणकारी प्रतिज्ञा कर सके और 'राम राज्य' की स्थापना कर सके। राम राज्य में किसी भी नागरिक को 'दैहिक,

दैविक, भौतिक ताप' नहीं व्यापता।

भक्ति आंदोलन का यह संघर्ष और संकल्प मानो श्रीमद्भागवत गीता का ही भाव-विस्तार है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।

महाप्राण सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने भी अपने दीर्घकाव्य 'तुलसीदास' में मध्यकालीन सांस्कृतिक संकट को पहचानने और उसे सम्बोधित करने का यत्न किया है। वे मध्यकालीन परिस्थिति और परिवेश को चुनकर अपने युगबोध से जोड़ते हैं। वे एकसाथ मध्यकालीन विदेशी (मुसलमान) आक्रांताओं और आधुनिककालीन विदेशी (अंग्रेज) आक्रांताओं का सांस्कृतिक प्रतिरोध रचते हैं। दरअसल, भक्ति कविता ही नहीं, भक्त कवि ऐसे ज्योतिपुंज हैं जो अंधेरे समय में राह दिखाते हुए भटकाव और विचलन से बचाते हैं। सबको उंगली पकड़कर राह दिखाने के कारण उन्हें 'सर्व गुरु' कहा जा सकता है।

संत काव्य के अनेक आयाम और रूप होते हुए भी यह विविधताओं की एकता का काव्य है। इसी एकता और इसी भारतीयता के सूत्रों की पहचान और पड़ताल का फलागम भक्ति कविता है। इसकी अंतर्धारा मनुष्यता है। भक्तिकाव्य भारत की एकता, समरसता और आध्यात्मिक उन्नति का प्रकाश-पुंज है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के आलोक में भक्तिकाव्य याकि इन संत-महात्माओं की वाणी का अध्ययन, विश्लेषण और पारायण करने की आवश्यकता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मूल मंतव्य शिक्षार्थी को एक बेहतर मनुष्य बनाना है। 1835 ई. में लॉर्ड मैकाले प्रसूत औपनिवेशिक शिक्षा नीति का ध्येय 'गुलामी का संस्थानीकरण' था। परवर्ती शिक्षा नीतियों में भी औपनिवेशिकता के बीज विद्यमान रहे। राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 शिक्षक (गुरु) और शिक्षार्थी (शिष्य) की भूमिकाओं और संबंधों को पुनर्परिभाषित करती है। दोनों की भूमिका सक्रिय, सहकारी और अन्योन्याश्रित है। इसकी मूल प्रेरणा भारत की प्राचीन गुरुकल शिक्षा प्रणाली है। संत-भक्त कवि और उनकी कविता भारत की गौरवशाली गुरु-शिष्य परम्परा का कीर्ति-स्तम्भ है। भारत की चेतना और चिंतन को 'डीकॉलोनाइज' करने में इसकी बड़ी भूमिका होगी।

'गुरु गोविंद दोउ खड़े, काके लागूं पांय' कहते हुए कबीरदास गुरु की महत्ता को अकारण रेखांकित नहीं करते, बल्कि उसकी व्यक्तित्व विधायिनी भूमिका का कृतज्ञ स्वीकार करते हैं। यह उनके काव्य और जीवन का आधार है –

जाका गुरु है आंधरा, चेला खड़ा निरंध।
एके एक ठेलिया दोन्यों कूप पड़न्त।।

निश्चय ही, सद्गुरु की महिमा अनन्त होती है और वह 'अनन्त' दिखावनहार भी होता। समकालीन उत्तर-आधुनिक समाज में ऐसे गुरु की आवश्यकता और महत्त्व पहले से भी अधिक है। हालांकि, कल-युग में ऐसे गुरु की प्राप्ति असम्भवप्राय है। वर्तमान सामाजिक जीवन और परिदृश्य तमाम बुराइयों और संकीर्णताओं का अखाड़ा बना हुआ है। इस विषाक्त वातावरण में संत कवि वैकल्पिक जीवन पद्धति प्रस्तावित करते दिखते हैं। मानुष भाव को पूजने और पोसने वाली यह जीवन शैली तमाम भिन्नताओं, भेदों, विषमताओं, विरूपताओं और विचलनों का शमन करने में सक्षम है। समाज में सहिष्णुता, सद्भाव और संगठन संतों का ध्येय और प्रेय है।

सभी संत कवियों ने जीवन में श्रेष्ठ गुरु की भूमिका का अनवरत, अकुंठ और उन्मुक्त स्वीकार किया है। उनके यहाँ गुरु की भूमिका अक्षर ज्ञान या शास्त्र/शस्त्र ज्ञान तक सीमित नहीं है। गुरु की भूमिका बहुत व्यापक है। वह कौशल के साथ-साथ संस्कार भी सिखाता है। प्राचीन गुरुकल और पाठशालाएँ सर्वप्रथम और सबसे बढ़कर संस्कारशालाएँ थीं। दुनिया के और भारत के सामाजिक-सार्वजनिक जीवन में इन संस्कारशालाओं की अनुपस्थिति ने एक गहरा रिक्त पैदा किया है। आज आधुनिक शिक्षा संस्थानों में पश्चिमी जीवन शैली और जीवन मूल्यों का प्रचार-प्रसार हो रहा है। उपभोक्तावाद की आँधी ने मानवीय मूल्यों और संस्कारों को देश-निकाला दे दिया है। इस स्थिति को बदलने के अभियान में संत-भक्त कवियों की वाणी पाथेय बनेगी। उनकी वाणी में सनातन संस्कृति और भारतीयता का सर्वोत्तम समाहित है। उसके सारग्रहण से ही भविष्य के भारत का निर्माण होगा। भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए हाँफते-काँपते समाज को आध्यात्मिकता का संबल देकर ही एक न्यायपूर्ण और सर्वसमावेशी बनाया जा सकता है। ❑

भारतीय संतों का जीवन व समाज दर्शन : एक विश्लेषण

डॉ. सोहन लाल

गेस्ट फैकल्टी (NCWEB), राजनीति विज्ञान विभाग, भगिनी निवेदिता कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में संतों का विशिष्ट स्थान रहा है। इसलिए भारत की पुण्य भूमि पर विभिन्न संतों, ऋषियों का अवतरण समय-समय पर हुआ है। भारत की पहचान आध्यात्मिक राष्ट्र के रूप में भी इन्हीं संतों के कारण है। संतों का जीवन दर्शन सभी के लिए अनुकरणीय रहा है क्योंकि सतों ने अपने पवित्र ग्रंथों व अपनी तेजस्वी वाणी के माध्यम से समाज में समरसता का ज्ञान फैलाया। समय-समय पर संत-महात्माओं ने सामजिक-कुरीतियों पर कुठाराघात कर देश में सांस्कृतिक वातावरण को पुष्पित व पल्लवित करते रहे। प्रमुख संतों में गुरुनानक देव, कबीर, रामानंद, सुंदरदास, मलूकदास, दादूदयाल, चैतन्य, वल्लभाचार्य, मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास का नाम विख्यात है, और इन सभी ने अपने दर्शन के माध्यम से समाज में एकता, अखंडता व समरसता की जो मशाल प्रज्वलित की, वह आज भी अपना प्रकाश निरंतर फैला रही है। संतों के जीवन दर्शन से शून्य संस्कृति में कभी उदारता, विराटता और विशालता, समर्पण, प्रेम भाव आदि के दर्शन संभव नहीं। उपर्युक्त के संदर्भ में हम विभिन्न भारतीय संतों के जीवन दर्शन पर दृष्टिपात करने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार उन्होंने समाज व देश को एकता के सूत्र में पिरोने का प्रयास किया।

गुरु नानक देव : 1469 में तलवंडी नामक स्थान पर गुरु नानक देव जी का जन्म हुआ। उन्होंने सदैव रूढ़ियों व कुसंस्कारों के विरोध में आवाज बुलंद की। हालांकि गुरु नानक देव ने जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं हमें सिक्ख धर्म में मिलते हैं। गुरु नानक की शिक्षाओं में एकेश्वरवाद पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इसके अंतर्गत कर्मकाण्डों का त्याग, उच्च मानवीय विचार व सदाचारी आचरण पर अधिक बल दिया गया है। मध्यकालीन संतों व समाज सुधारकों ने सत्य आचरण पर सर्वाधिक बल प्रदान किया है तथा गुरु नानक की सबसे बड़ी विशेषता यही सत्य आचरण है। तत्कालीन समाज में ऊँच-नीच व जाति संबंधी भेद चरम पर था। गुरु नानक ने मानवता की एकता का समर्थन किया। वर्तमान समय में जहाँ महिलाओं के साथ भेदभाव सामने आता है, गुरु नानक देव जी ने उस समय महिलाओं की समानता की वकालत की उन्होंने कहा कि 'सो किउ मंदा आखीये जितु जमहि राजान' गुरु नानक देव ने वेदों और कुरान को कभी झूठा नहीं कहा। उन्होंने कहा कि व्यक्ति को उनके अनुसार ही आचरण करना चाहिए। गुरु नानक ने कभी 'कथनी' और 'करनी' में विभेद का

समर्थन नहीं किया अपितु इस बात का समर्थन किया कि जो कहा गया है, उसे पूरा किया जाना चाहिए। गुरु नानक जी ने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय धर्मांतरित समाज को अपनी संस्कृति की जड़ों से जुड़े रहना चाहिए और अपने मूल की ओर चिंतन कर वापस लौटने का प्रयत्न करना चाहिए। गुरु नानक देव ने धार्मिक कट्टरपंथी इस्लामी आक्रांताओं को ये संदेश दिया कि कोई हिंदू या मुसलमान नहीं बल्कि सभी उस परमपिता परमेश्वर की सृष्टि द्वारा सृजित प्राणी है। इससे ये भी संदेश जाता है कि जबरन धर्मांतरण की प्रथा पर रोक लगे और सनातन हिंदू समाज को उसकी संस्कृति से मृत्यु का भय दिखाकर अलग न किया जा सके।

कबीरदास : संत कबीरदास आजीवन समाज और लोगों में व्याप्त आडंबरों पर कुठाराघात करते रहे। माना जाता है कि इनका जन्म सन् 1398 के लगभग लहरतारा, काशी में हुआ, हालांकि कबीरदास के जन्म स्थान को लेकर कोई एक मत नहीं है। ये कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कबीर का जन्म उस समय में हुआ जब सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह से डगमगाई हुई थी। वह एक ऐसा समय था जब मुस्लिम आक्रांताओं की नीतियों ने प्राचीन भारतीय परम्पराओं पर प्रश्नचिन्ह अंकित कर दिया था। संस्कृति, विचार और धर्म की भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ आपस में टकरा रही थीं, ऐसे समय में कबीर का आविर्भाव वैतरणी पार करवाने के समान था। कबीर जाति-पाँति के विरोधी थे और इसलिए कबीर ने किसी धर्म विशेष और जाति को अपनी पहचान का आधार नहीं बनाया। कबीर ने सरल व सुबोध भाषा के माध्यम से जन-जन को अपनी ओर खींचा। कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे एवं उन्होंने उसे राम, मोहन, केशव, हरि आदि अनेक नामों से संबोधित किया। कबीर विश्व बंधुत्व के प्रबल समर्थक थे। वर्तमान परिदृश्य में व्याप्त वर्ग विद्वेष रूपी विष से ग्रस्त तथा मानवता के रक्त पिपासु मनुष्य के लिए कबीर की यह घोषणा कि सांई के सब जीव हैं, निश्चय रूप से नव प्रदर्शक है। कबीर ने हिंसा का पुरजोर विरोध किया चाहे वह कैसी भी हिंसा क्यों न हो। विशेषतया उन्होंने धर्म और स्वाद से संबंधित हिंसा का पुरजोर विरोध किया और कहा कि - ''जोरी किया जुलम है, भाँगे न्याव खुदाइ। खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे, मुहि, खाई॥'' कबीर ने समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक भेदभाव को नकारा और सबकी समानता का समर्थन किया। सामंती समाज की जड़ता को नेस्तनाबूद करने में कबीर का योगदान अमूल्य व अतुलनीय है। कबीर की दृष्टि एक ऐसे समाज की स्थापना में विश्वास करती है, जो मानवीय गुणों से परिपूर्ण हो, जिसमें सभी धर्मों, मतों को बराबरी का अधिकार प्राप्त हो। इस प्रकार ये कहा जा सकता है कि कबीर वह व्यक्ति थे, जिन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों और धर्मों के आडंबरों को त्यागने का समर्थन किया तथा एक ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया जिसमें ऊँच-नीच व धर्म-संप्रदाय के भेदभाव के लिए कोई स्थान न रहे।

भारत में संत परंपरा का उदय एक ऐसे समय में हुआ जब समाज में अनेक कुरीतियाँ विद्यमान थी, विदेशी आक्रांता भारतीय संस्कृति को मिटाने के लिए आतुर थे। अंधविश्वास, ऊँच-नीच, नैतिक पतन आदि कुरीतियाँ भारतीय समाज को जकड़े हुए थी। संतों ने इन कुरीतियों का डटकर विरोध किया और समाज को एक नई दिशा की ओर अग्रसर किया। अपने जीवनदर्शन व समाज दर्शन के माध्यम से संतों ने खाई हुई भारतीय परंपरा, मूल्यों, भक्ति भावना को पुर्नजीवित करने का प्रयास किया। चाहे वह कबीर, गुरुनानक देव, रामानन्द को या फिर मीराबाई जैसी स्त्री संत सभी का लक्ष्य भारतीय मूल्यों की रक्षा करना था। वर्तमान संदर्भ में संतों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

संत रामानंद : रामानंद जी उत्तर व दक्षिण के मध्य एक कड़ी के रूप में थे। संत रामानंद जी ने एकेश्वरवाद पर जोर देकर राम की भक्ति पर बल दिया। इन्होंने भी अन्य संतों की तरह सामाजिक समानता का मार्ग प्रशस्त किया। रामानंद ने भक्ति मार्ग को जन-जन तक पहुँचाने के लिए भारत भर की यात्राएँ की। वे उड़ीसा के पुरी और दक्षिण के कई धर्म स्थानों तक पहुँचे और रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के मन में समाज में फैली ऊँच-नीच, छूआछूत और जात-पात की भावनाओं को दूर करने का दृढ़ संकल्प था, इसलिए उन्होंने कहा कि यदि समाज में इस तरह की भावनाएँ रही तो सामाजिक विकास नहीं हो सकता। इसके लिये उन्होंने एक नए मार्ग 'भक्ति मार्ग' की खोज की तथा इस मार्ग को समता मूलक व बेहद उदार बनाने का प्रयास किया। रामानंद प्रथम संत हुए जिन्होंने हिंदी भाषा को प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया। उनका कहना था कि 'जाति पाति पूछे न कोई हरि को भजे सो हरि का होई।' स्वामी रामानंद ने दलितों, अछूतों, महिलाओं को भी भक्ति के वितान में समान स्थान दिया। यह बात आज इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि आज भी हमारे समाज में कई मंदिरों में दलितों का प्रवेश निषेध माना जाता है, जो कि दुर्भाग्यपूर्ण है। इस्लाम धर्म स्वीकार कर चुके हिंदूओं की फिर से हिंदू धर्म में पुनर्वापसी के लिए स्वामी रामानंद जी ने परावर्तन संस्कार आरंभ किया।

वल्लभाचार्य के अनुसार इस सृष्टि के तीन मूल तत्त्व है, जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, ब्रह्मा, ब्रह्मांड और आत्मा। उनका दर्शन इन तीन तत्त्वों के इर्द-गिर्द ही घूमता दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार जगत का आदि व अन्त श्रीकृष्ण के साथ है। चूंकि उस समय में मुस्लिम आक्रांताओं के अत्याचारों से सनातनी जनता तरह-तरह के कष्टों से ग्रस्त थी, सत्पुरुषों को यातनाएँ दी जा रही थी, ऐसे में वल्लभाचार्य को इसका एकमात्र समाधान कृष्ण भक्ति में नजर आया और उन्होंने ये उजागर भी किया कि श्रीकृष्ण ही हमारे रक्षक हैं।

संत दादूदयाल – संत परंपरा को आगे बढ़ाते हुए दादूदयाल का नाम नभ में चमकते तारे के समान है। उनका जन्म अहमदाबाद में हुआ। दादू दयाल ने बहुत ही सरल भाषा में अपने विचारों की अभिव्यक्ति की। दादू दयाल के अनुसार ब्रह्मा से ओंकार की उत्पत्ति और ओंकार से पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। दादू दयाल ने गुरु को अत्यन्त महत्व दिया तथा ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में उसकी आवश्यकता पर बल दिया। दादू दयाल ने भी विभिन्न प्रकार के आडंबर, अंधविश्वास, सामाजिक भेदभाव का विरोध किया। दादू दयाल ने ईश्वर की भक्ति को मानवीय दृष्टि व समाज सेवा से जोड़कर, भक्ति का मार्ग सुगम बनाने का प्रयास किया। दादू दयाल की वाणी में इतना तेज था कि इनका सत्संग सुनकर अकबर ने गौ हत्या बंद करने का ऐलान कर दियार था।

चैतन्य महाप्रभु – भारतीय संत परंपरा में चैतन्य महाप्रभु का नाम अपनी अमिट छाप छोड़े हुए है। उनके अनुयायी उन्हें भगवान श्रीकृष्ण का अवतार मानते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने गौडीय वैष्णववाद की स्थापना की जो एक धार्मिक आंदोलन है, जो वैष्णववाद या सर्वोच्च आत्मा के रूप में भगवान विष्णु की पूजा को बढ़ावा देते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने देखा कि समाज में इतने भेदभाव व्याप्त हैं कि मनुष्य अपने मानवता के धर्म से दूर जा रहा है। साथ ही क्रूर शासन के चारों तरफ फैलने से ज्यादातर लोग पथभ्रष्ट हो गए थे एवं आदिकाल से चले आ रहे सनातन धर्म को भूलते चले जा रहे थे। चैतन्य महाप्रभु ने जात-पात के बंधनों को समाप्त करने और संपूर्ण मानव जाति के कल्याण हेतु 'संकीर्तन' आंदोलन शुरू किया। आंदोलन की मुख्य विशेषता थी, सर्व-धर्म समभाव, एकता, भक्ति, प्रेम और अहिंसा की भावना को जन-जन के हृदय में समाहित करना। आज के समय में व्यक्ति को कुछ प्राप्त हो जाता है या वह अधिक धन अर्जित कर ले या फिर वह अधिक ज्ञान अर्जित कर ले, तो कहीं न कहीं अहंकार के वशीभूत हो ही जाता है। चैतन्य महाप्रभु ने कहा कि मनुष्य को अपने अहंकार को समाप्त कर घास के समान तुच्छ समझना चाहिए मतलब, व्यक्ति को सदा विनम्र रहना चाहिए।

वल्लभाचार्य : पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य ने जिस कृष्णभक्ति का प्रतिपादन किया वह आज न केवल भारत वरन् विदेशों में भी लोकप्रिय होती जा रही है। अन्य संतों की भांति ही वल्लभाचार्य जी ने सेवा भावना पर जोर दिया। वल्लभाचार्य के अनुसार इस सृष्टि के तीन मूल तत्त्व हैं, जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, ब्रह्मा, ब्रह्मांड और आत्मा। उनका दर्शन इन तीन तत्त्वों के इर्द-गिर्द ही घूमता दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार जगत का आदि व अन्त श्रीकृष्ण के साथ है। चूंकि उस समय में मुस्लिम आक्रांताओं के अत्याचारों से सनातनी जनता तरह-तरह के कष्टों से ग्रस्त थी, सत्पुरुषों को यातनाएँ दी जा रही थी, ऐसे में वल्लभाचार्य को इसका एकमात्र समाधान कृष्ण भक्ति में नजर आया और उन्होंने ये उजागर भी किया कि श्रीकृष्ण ही हमारे रक्षक हैं। वर्तमान में जहाँ विशेष धर्म के लोग केवल अपने ही धर्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करने के लिए प्रयासरत हैं वहीं वल्लभाचार्य के समय सिकंदर लोदी वैष्णव मत से प्रभावित हुआ, अकबर व हुमायूँ भी वैष्णव मत से प्रभावित हुए और सहिष्णुता का परिचय दिया।

मीराबाई : मीराबाई का आगमन एक ऐसे समय में हुआ जब भारत में स्त्रियों की दशा में गिरावट प्रारम्भ हो गयी थी तथा मुख्य कारणों के अतिरिक्त मुस्लिम आक्रमणकारियों के आक्रमणों को भी इसमें मुख्य रूप से जोड़ा जाता है। पति की मृत्यु के बाद उन्होंने कृष्ण भक्ति को अपनाया तथा पुरुष प्रधान समाज को चुनौती प्रस्तुत की। उस समय जबकि सती प्रथा का प्रचलन था, मीरा ने सती होने से इंकार कर दिया। अगर हम हमारे समाज की बात करें तो ये प्रतीत होता है कि स्त्रियों पर नैतिकता का सारा बोझ डाल दिया गया है, और पुरुष स्वच्छंदतावादी जीवन के स्वतंत्र है। यहाँ मीरा की स्थिति एकदम अलग प्रतीत होती है। परिवार और समाज ने मीरा को जितना रोकना चाहा अर्थात् उसे भक्ति से हतोत्साहित करना चाहा व अमानवीय व्यवहार किया, मीरा ने निर्भीकता के साथ इसका सामना किया। मीरा का दृष्टिकोण समानतावादी है जिसमें पुरुष व स्त्री दोनों समान हैं। फिर मीरा का कृष्ण भक्ति में लीन हो जाना यह संदेश देता है कि अगर मनुष्य एक लक्ष्य के साथ आगे बढ़ता है तो वह अपना मनवांछित फल प्राप्त कर ही लेता है।

संत सूरदास : सूरदास की रचनाओं में हमें स्त्री व पुरुष में समानता का भाव दृष्टिगोचर होता है। सूरदास का साहित्य सामंतवादी वातावरण में सामाजिक समानता व सामाजिक समरसता की भावना भी स्थापित करता है। जहाँ स्त्री-पुरुष की समानता के दर्शन, कृष्ण व गोपियों के रूप में नज़र आते हैं, वहीं श्रीकृष्ण का ग्वालों के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार सामाजिक समानता प्रकट करता है। आज के समय में जहाँ उच्च जाति व निम्न जाति के मध्य विभेद स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आते हैं, ऐसे में सूरदास जी सामाजिक समरसता के पुरोधा के रूप में प्रकट होते हैं। सूरदास जी के काव्य में हमें सामंती व्यवस्था के अन्य पहलुओं-

लगान, पशुपालन, ऋण व्यवस्था, ग्रामीण व शहरी जीवन की झलक या यूं कहें कि अंतर स्पष्ट दिखाई देता है। सूरदास की कविताओं में ब्रज की लोकसंस्कृति और लोकजीवन गहराई व विस्तार से प्रकट हुए हैं। परिवेश की इतनी गहन समझ अति दुर्लभ है। ब्रज के लोकपर्व, तिथि-त्योहार, उत्सव समारोह आदि सूरदास की कविताओं को और प्रासंगिक बनाते हैं। प्रो. मैनेजर पांडेय का कथन है कि सूरदास ने गोचारण व किसान जीवन के विविध प्रसंगों को उजागर किया है। सूरदास का काव्य अपने समय व समाज से जुड़ा काल है। वर्तमान संदर्भ में भी मनुष्य को अपनी संस्कृति व अपने जन्म स्थान के प्रति सम्मान की भावना रखनी चाहिए तथा हमारे त्योहार, उत्सव आदि के प्रति मन में श्रद्धा का भाव होना जरूरी है।

निष्कर्ष

भारत में संत परंपरा का उदय एक ऐसे समय में हुआ जब समाज में अनेक कुरीतियाँ विद्यमान थी, विदेशी आक्रांता भारतीय संस्कृति को मिटाने के लिए आतुर थे। अंधविश्वास, ऊँच-नीच, नैतिक पतन आदि कुरीतियाँ भारतीय समाज को जकड़े हुए थी। संतों ने इन कुरीतियों का डटकर विरोध किया और समाज को एक नई दिशा की ओर अग्रसर किया। अपने जीवनदर्शन व समाज दर्शन के माध्यम से संतों ने खोई हुई भारतीय परंपरा, मूल्यों, भक्ति भावना को पुर्नजीवित करने का प्रयास किया। चाहे वह कबीर, गुरुनानक देव, रामानन्द को या फिर मीराबाई जैसी स्त्री संत सभी का लक्ष्य भारतीय मूल्यों की रक्षा करना था। वर्तमान संदर्भ में संतों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। क्योंकि अगर वर्तमान परिप्रेक्ष्य पर दृष्टिपात किया जाए तो हम पायेंगे कि समाज में हिंसा अपने चरम पर है, व्यक्तिगत स्वार्थ बढ़ता जा रहा है, ऊँच-नीच का भेदभाव वर्तमान में भी परिलक्षित हो रहा है, नैतिक मूल्यों में ह्रास जगजाहिर है। आज हम जिस आधुनिकता में जी रहे हैं वह एक दिखावा मात्र से बढ़कर कुछ भी नहीं है क्योंकि आज मानव शंका, विषमता बोध, पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण कर रहा है। अतिबौद्धिकता के कारण मानवीय मूल्यों का ह्रास हो रहा है। ऐसे में संतों का उपदेश या उनका दर्शन मानव मात्र के लिए संजीवनी के समान है। ❑

भक्तिकाल की संत-गुरु परंपरा

डॉ. अनुपम चतुर्वेदी
सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, राजकीय बांगड़ महाविद्यालय, पाली (राज.)

भारतीय परम्परा में गुरु का बड़ा महत्व बताया गया है। गु का अर्थ है अंधकार और रु का अर्थ है निरोधक अर्थात् अंधकार का निरोधक या सरल शब्दों में जो अज्ञान को दूर करे वह गुरु है। हर भारतीय भाषा में हर काल खण्ड में, हर परम्परा में भारत में गुरु को महत्ता दी गई है। कहीं तो ज्ञान को गुरु की शुश्रूषा का फल बताया गया है।

गुरुसुश्रुषा फलं श्रुतं ज्ञानम्

वैदिक काल से लगाकर अद्यतन भारत में गुरु की महत्ता को स्वीकार किया गया है। आम भारतीय जनता में साधु, भक्त, संत, साधक इन सभी शब्दों को पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया गया है। कबीरदास को भक्त एवं तुलसीदास को संत कहने वाले कई वाक्य या कई वार्ता मिल जायेंगी। भक्त कबीरदास या संत तुलसीदास जैसे प्रयोग बहुत गलत भी नहीं कहे जा सकते, भारतीय जनमानस की समरसता और समन्वय की अपार क्षमता एवं सबमतों को समान अंगीकार करने की भावना निर्गुन को मानने वाले संत एवं सगुण की आराधना करने वाले भक्त को पर मूल रूप से संत शब्द निर्गुण भक्तिधारा को मानने वाले व्यक्तियों के प्रयुक्त हुआ है। संत शब्द की कई व्याख्या है जिनमें सबसे अधिक मान्य व्याख्या है : संत अर्थात् वह व्यक्ति जिसने सत् का साक्षात्कार कर लिया हो। इन संतों को यह सत् का साक्षात्कार अनिवार्य रूप से गुरु की कृपा से हुआ है। संत को संत बनाया ही गुरु ने है। अत: वह गुरु की महिमा का बखान करता है गुरु की महिमा गाता है।

संत परम्परा में गुरु का स्थान सर्वोच्च है। संत परम्परा के समानान्तर एवं कुछ आगे-पीछे सूफी परम्परा, सगुण भक्ति परम्परा चली है पर यहाँ गुरु ईश्वर प्राप्ति का माध्यम मात्र है। ईश्वर सर्वोच्च है तथा गुरु उसकी प्राप्ति का माध्यम। इस प्रकार संत परम्परा में गुरु को सभी परम्पराओं से ज्यादा महत्त्व दिया गया है। संत गुरु और ईश्वर के बीच में एक चुनने पर गुरु को चुनते हैं –

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारि गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।

संत परम्परा सम्पूर्ण भारत में चलती आई है नामदेव, रामानन्द आदि इसके पुरोधा कहे जा सकते हैं, रामानन्द की शिष्य परम्परा सम्बन्धी यह पद्य दृष्टव्य है :

अनन्तानन्द कबीर,
सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानन्द रैदासु धन्ना,
सेन, सुरसरि की धरहरि।।

इनमें से कबीर, पीपा, रैदास, धन्ना, सेना बहुत प्रसिद्ध हुये हैं, कबीरदास की क्रांतिकारी व्यक्तित्व एवं कृतित्व का जनमानस पर बहुत प्रभाव पड़ा जो आज भी विद्यमान है। कबीरदासजी गुरु के बारे में कहते हैं –

गुरु बिन ज्ञान न उपजे,
गुरु बिन मिले न मोष।
गुरु बिन लखे न सत्य को,
गुरु बिन मिटे न दोष।।

रैदास की शिष्या मीरां बाई हुई जो भक्त भी थी और सन्त भी उन्होंने अपने गुरु के बारे में लिखा है –

'गुरु मिलिआ संत गुरु रविदासजी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी' कबीर की शिष्य परम्परा कबीर पंथी सम्प्रदाय आज भी विद्यमान है और आज भी ईश्वर की अपेक्षा सतगुरु को ज्यादा महत्त्व देते हैं। पंजाब के संत नानक देव ने कहा कि गुरु के बिना ज्ञान संभव नहीं है। नानक देव सिक्खों के प्रथम गुरु माने गये इस पंथ में गुरु की इतनी महत्ता मानी गई की नानक और 9 पश्चवर्ती सिक्ख धर्म के महापुरुषों को ईश्वर, देवता, देवदूत, भक्त, साधक इत्यादि न कहकर गुरु कहा गया है यथा गुरु नानक देव, गुरु अर्जुनदेव, गुरु गोविन्दसिंह।

दादू दयाल, जम्भनाथ, सींगा, सदना, पीपा, हरिदास, लालदास, मलूकदास, रज्जबदास, सुंदरदास, धन्ना इत्यादि संतों ने गुरु के महत्त्व को सर्वोपरि माना और इनकी शिष्य परम्परा में गुरु का स्थान सर्वोपरि बना रहा इस संतों की परम्परा में गुरु शिष्य प्राय: साथ रहा करते हैं। गुरु सानिध्य में शिष्य ज्ञान प्राप्त करता है। एक गुरु के पश्चात् शिष्य जो प्राय: उसके द्वारा चयनित होता, गुरु बनता फिर यह परम्परा चलती रहती। गुरु शिष्यों को मार्गदर्शक होता पथ प्रदर्शक होता। गुरु की कृपा होने पर शिष्य का कल्याण माना जाता था। दादू दयाल के शब्दों में दादू सांचा गुरु मिले, जीव ब्रह्म है जाइ।

मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक रूप से देखा जाये तो सगुण भक्ति परम्परा में ईश्वर का रूप, गुण आदि शब्द स्पष्ट है, ईश्वर से जुड़ना एवं उसका बिम्ब आत्मसात करना आसान है। लेकिन संत परम्परा में जहाँ ईश्वर का, ब्रह्म का स्वरूप नहीं हैं उसके, रूप, रंग, गंध आकार कुछ भी नहीं है ऐसे ब्रह्म से जुड़ना बहुत मुश्किल है। अत: संत परम्परा में ब्रह्म का स्थान गुरु ले लेते हैं। जिससे जुड़ाव एकदम सरल है। संत परम्परा का शिष्य जब ब्रह्म का ध्यान करता है तो उसके समक्ष गुरु का बिम्ब ही प्रकट होता है, इस स्थिति में गुरु का स्थान शिष्य के लिए सर्वोच्च हो गया और शिष्य के लिए गुरु परमात्मा से भी महत्त्वपूर्ण हो गया, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तभी तो संत शिष्य अपने गुरु को पुकारते हुये कहता है .....

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार। लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावण हार।। ❑

विद्यार्थियों के लिए आदर्श-अर्जुन का शिष्यत्व

संदीप जोशी
सदस्य NCTE
सदस्य NFG, NCERT
जालोर (राज.)

प्राचीन काल से ही भारतीय शिक्षा में गुरु शिक्षा परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वशिष्ठ-श्रीराम, चाणक्य-चंद्रगुप्त, श्रीरामकृष्ण परमहंस -स्वामी विवेकानंद, स्वामी विरजानंद-स्वामी दयानंद सरस्वती जैसे मनीषियों की एक विस्तृत शृंखला है। अपने देश में गुरु एवं शिष्य, दोनों ने अपने जीवन से अनुकरणीय आदर्श खड़े किए हैं एवं पूरे विश्व को प्रेरणा दी है। ऐसी गौरवशाली परम्परा वाले जीवन दर्शन एवं निर्वहन के आधार पर ही भारत विश्व गुरु के पद पर सुशोभित हुआ। पांडु पुत्र अर्जुन भी एक महान एवं अद्‌भुत शिष्य थे। उनका शिष्यत्व, उनका विद्यार्थीपन हम सभी के लिए प्रेरक एवं अनुकरणीय है।

महाभारत काल में अर्जुन ने अपने कार्यों से अपनी एक विशेष पहचान स्थापित की है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण, दृढ़ प्रतिज्ञ भीष्म पितामह, सत्यवादी युधिष्ठिर एवं महा बलशाली भीम के होते हुए भी अर्जुन केंद्रीय पात्र के रूप में पूरी महाभारत में व्याप्त है।

बचपन से ही उसने स्वयं में कुछ विशेष गुणों का विकास किया जिनके कारण वह सदैव सर्वप्रिय रहा। घर में माता कुंती का, शिष्य के रूप में गुरु द्रोण का,भाइयों में शेष चारों पांडवों का एवं भगवान श्री कृष्ण का भी वह अत्यंत स्नेहिल था। अपने छात्र जीवन में अपनी योग्यता के बल पर वह सदैव प्रथम ही रहा। चिड़िया की आँख वाला उदाहरण सब को ध्यान में है ही जहाँ अन्य विद्यार्थियों को विभिन्न दृश्य दिख रहे थे वही अर्जुन की एकाग्रता केवल अपना लक्ष्य चिड़िया की आँख ही देख पा रही थी।

लक्ष्य के प्रति इतनी एकाग्रता हो तब सफलता और श्रेय मिलता है। अर्जुन के बचपन की एक और घटना अध्ययन के प्रति उसके लगनशील होने का प्रमाण है। एक बार भीम अंधेरे में भोजन कर रहे थे। अर्जुन के मन में सहज प्रश्न आया कि जब भीम अपना प्रिय कार्य अंधेरे में कर सकते हैं, तो वह क्यों नहीं? बस यहीं से उन्होंने घने अंधकार में ध्वनि के आधार पर तीर चलाने की कला का अभ्यास किया और धीरे-धीरे शब्दभेदी बाण चलाने में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली।

विद्यार्थियों में यदि लगन हो तो वह किसी भी विद्या एवं कला में सर्वश्रेष्ठ हो सकता है, यह अर्जुन ने अपने छात्र जीवन से हमें सिखाया है। एक और उदाहरण है।

एक बार आचार्य द्रोण के आश्रम में सारे शिष्य खेल रहे थे। आचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा को एकांत में चक्रव्यूह की विद्या सिखा रहे थे। नया सीखने के प्रति अर्जुन में जबरदस्त लगन एवं उत्कंठा थी। वह खेलना छोड़कर आचार्य के पास सीखने पहुँच गया। गुरु का प्रिय तो वह था ही। उसकी जिज्ञासु वृति को आचार्य भी मना नहीं कर सके। अर्जुन ने यह विद्या सीखी। महाभारत युद्ध के समय आचार्य द्रोण के अलावा चक्रव्यूह विद्या के दो ही पूर्ण जानकार थे - अर्जुन और अश्वत्थामा। अध्ययन और अभ्यास के प्रति जबरदस्त लगन ही विद्यार्थी को महान बनाती हैं।

अर्जुन की महानता का एक और कारण उसका जीवन भर विद्यार्थी बने रहना है। वह लगातार अध्ययनरत रहा, सीखता रहा, साधना करता रहा। वनवास के समय जब शेष पांडव विविध प्रकार से वनवास अवधि व्यतीत कर रहे थे, अर्जुन ने उस समय भी नए शास्त्रों का शोध एवं निर्माण जारी रखा। नया सीखने की इतनी तीव्र उत्कंठा कि वह अन्य लोको में गया, तपस्या की (शोध पूर्वक साधना की)। नागलोक, इन्द्रलोक से विविध अस्त्र-शस्त्र लाया तो भगवान शिव एवं ब्रह्मा की साधना कर उनसे क्रमशः पाशुपतये अस्त्र एवं ब्रह्मास्त्र भी प्राप्त किए। धनुर्विधा में विशेषज्ञ होना, निष्णात होना, यह लक्ष्य तय कर वह लगातार उस दिशा में प्रयत्नशील रहा। अच्छा विद्यार्थी भी ऐसा ही होता है जो अपने लक्ष्य के प्रति सतत प्रयत्नशील रहे।

अर्जुन का यह विद्यार्थीपन कुरुक्षेत्र के मैदान में भी बना रहा। एक विद्यार्थी की तरह ही उसने सहज भाव से अपने प्रश्न, जिज्ञासाएँ, आशंकाएँ श्री कृष्ण से पूछी। अर्जुन के इस विद्यार्थीपन का लाभ पूरे विश्व को मिला। श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में ईश्वर का अमृत संदेश पूरे संसार को मिला जो 5000 से अधिक वर्ष बाद आज भी उपयोगी है, शाश्वत है। हम यह जानते ही हैं कि गीता भगवान श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के मध्य का वार्तालाप है।

श्रीमद्भगवद्गीता में शिष्य के रूप में अर्जुन ने एक अद्भुत आदर्श हमारे सामने रखा है। गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा , भगवान् उसे शिक्षा प्रदान करे, शिष्यत्व प्रदान करे, इसके लिए विनम्रता पूर्वक आग्रह करना, गुरु के कथन पर विश्वास, पूर्ण समर्पण भाव एवं अपनी कमजोरियाँ स्वीकारना अर्जुन को श्रेष्ठ शिष्य बनाती है। उसने अपनी दुर्बलताओं एवं अज्ञान को छिपाया नहीं है। गीता का प्रारम्भ ही उनके द्वारा अपनी मनः स्थिति को व्यक्त करने से ही होता है। वे कहते हैं -

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते??
गाण्डीवं संसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 1 श्लोक 28, 29)

अर्जुन का अपने गुरु/मार्गदर्शक के प्रति यह आत्मसमर्पण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अपने शिक्षक के प्रति विनम्रता, विश्वास एवं पूर्ण श्रद्धा थे, तीन बातें शिक्षार्थी के लिए आवश्यक है। ऐसा होने पर ही शिक्षा आचरण (व्यवहार) में आती है। जो शिक्षा व्यवहार में न आए, केवल पाठ्यपुस्तकों में रहे, उसकी समाज एवं जीवन के लिए कोई उपयोगिता नहीं है। अतः हम जिससे मार्गदर्शन, शिक्षा चाहते हैं उसके प्रति पूर्णतया श्रद्धावान रहना चाहिए। केवल बहस करने के लिए अथवा आनंद लेने के लिए शिष्य को प्रश्न नहीं करना चाहिए। प्रश्न सारगर्भित एवं जिज्ञासु प्रकृति के होने चाहिए।

वे कहते हैं कि युद्ध भूमि में खड़े अपने इन बंधुओं को देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है। मेरे शरीर में कम्पकपी (कम्पन) एवं रोमांच हो रहा है, हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है, मेरा मन भ्रमित हो रहा है और मैं खड़ा रहने में समर्थ नहीं हूँ।' अपनी दुर्बलता को छिपाकर यदि अर्जुन बिना उत्साह एवं इच्छा के कर्म (युद्ध) करते तो परिणाम भी संदेह पूर्ण ही रहता। अर्जुन ने कमजोरी छिपाने की बजाय अपनी मनःस्थिति व्यक्त की तो उसका समाधान भी हुआ।

अर्जुन की एक और विशेषता उसकी जिज्ञासु प्रवृति है। जब तक वह संतुष्ट नहीं हुए, तब तक प्रश्न पूछते रहे। यहाँ एक बात और भी है। अर्जुन ने प्रश्न प्रसाद के लिए नहीं पूछे, कुतर्क अथवा वाग्विलास के लिए प्रश्न नहीं पूछे। उसने अपने अज्ञान को दूर करने के लिए पूरी विनम्रता से प्रश्न पूछे। श्रीकृष्ण द्वारा दिए गए उत्तर को विनम्रतापूर्वक स्वीकार भी किया।

मानव पूरे जीवन में स्वभावतः ऊहापोह में रहता है। विशेषरूप से किशोरावस्था (विद्यार्थीकाल) में यह असमंजस पूर्ण स्थिति अधिक ही होती है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि उसे क्या करना है? अनिश्चय की मनःस्थिति रहती है। ऐसे में यदि योग्य मार्गदर्शक मिल जाए तो वह अपने निर्णय में, कार्य में विजयी होकर ही रहता है। गीता में अर्जुन इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

जिस प्रकार सामान्य मानव गिरता है, पड़ता है, च्युत होता है, अपने कर्तव्य पथ से विचलित होता है और किसी कार्य को करने का निश्चय करने के बाद भी उस कार्य को करने में हिचकता है, उसी प्रकार अर्जुन भी मानवीय दुर्बलताओं से ग्रस्त होकर वैसा ही आचरण करता है, इसीलिए वह हमारा सच्चा प्रतिनिधि है। उसने कोई बात छिपायी नहीं है। उसने स्वीकार किया है कि मैं विचलित (च्युत) हुआ हूँ। साथ

ही उसने शिष्य भाव से योग्य मार्गदर्शन भी माँगा है और मार्गदर्शन मिलने पर सारी शंकाएँ छोड़कर योग्य आचरण करता है। यही उसकी महानता है, यही हमें सीखना है।

अर्जुन से सीखने के लिए एक बात और भी है- उसका अटल आत्मविश्वास। गीता के पहले अध्याय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि एक तरफ वह विचालित तो हुआ है किंतु साथ ही वह निर्भय एवं आश्वस्त है। उसके पास अटल आत्मविश्वास हैं। उसके कथन में कहीं भी हारने या मरने का डर नहीं हैं। युद्ध में एक हारता एवं एक जीतता है किंतु पूरी गीता में अर्जुन ने अपने हारने-मरने की बात नहीं की हैं, इसके विपरीत उसकी ध्वनि निकलती है 'मैं शत्रु को कैसे मारूँ, क्यों मरूँ? उसके मन में शत्रु सेना के भयंकर संहार के बाद की स्थिति को लेकर व्यथा है। वह कहते हैं –

कुलक्षये प्रणश्यन्ति
कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं
कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं
धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः
स्याम माधव॥

अर्थात् अपने ही बांधवों को मारकर क्या हम सुखी होंगे ? कुल का क्षय होगा, कुल धर्म नष्ट होगा, पाप बढ़ेगा, वर्णशंकर पैदा होंगे, इससे पितरों की भी अधोगति होगी, इत्यादि। पहले अध्याय के श्लोक 35 से 45 तक अर्जुन के इन मनोभावों का सुंदर शब्द चित्रण है। किंतु कहीं भी उसके हारने का भाव नहीं है। हाँ, कुटुम्ब की रक्षा के लिए युद्ध विमुख होने की बात अवश्य कही है। स्वयं के प्रति आत्मविश्वास का ऐसा भाव हम सबमें होना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अर्जुन कुछ भ्रमित हुए, कुछ हताश हुए, थोड़े मोहित हुए और कुछ विचलित हुए। हमारे साथ भी अक्सर ऐसा ही होता है अतः उनकी और हमारी बीमारी एक जैसी है। अतः दवा भी वही काम आएगी। परन्तु यह प्रसंग द्वापर युग का है, अर्जुन की अपनी कुछ अद्भुत विशेषताएँ थी और उसके गुरु भी भगवान श्रीकृष्ण थे जिनके कारण उसका काम दवा की कम मात्रा (dose) से चल गया, एक बार समझाने पर ही उन्हें गीता समझ आ गई किंतु हम तो कलयुग के सामान्य मानव हैं अतः वैसी बीमारी से मुक्ति के लिए हमें दवा की मात्रा बढ़ानी होगी। गीता को बार-बार पढ़ना होगा, उसे समझकर जीवन व्यवहार में लाना होगा, इससे हम भी अपने जीवन मे निष्काम कर्म एवं सफलता की ओर बढ़ेंगे।

प्रत्येक कर्म किसी न किसी अपेक्षा (धन, विजय, यश इत्यादि) से ही किया जाता है किन्तु अर्जुन की यह कर्म प्रेरणा नष्ट हो गयी थी। उसे राज्य, सुख, वैभव इत्यादि नही चाहिए थे। वे कहते हैं –

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण
न च राज्यं सुखानि च।। 1.32 एवं
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः
किं नु महीकृते॥

अध्याय 1 श्लोक 35

(अर्थात् तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता तो पृथ्वी के लिए कहना ही क्या।)

वहाँ किसी भी प्रकार के भौतिक सम्पन्नता के तत्त्व अर्जुन के कर्म की आधार भूमिका के रूप में नहीं थे। उसकी स्वार्थपरता नष्ट हो गयी थी। यह स्वार्थपरता नष्ट होना तो अच्छा ही है। किंतु कर्म की प्रेरणा, कर्म की इच्छा, नष्ट नहीं होनी चाहिए। सारे स्वार्थ त्यागने के बाद कर्म की प्रेरणा ही क्या है? इसी का उत्तर देने के लिए गीता है।

अपनी मनोदशा को श्रीकृष्ण के सम्मुख व्यक्त करने के बाद अर्जुन ने उनसे मार्गदर्शन की याचना की। वास्तव में शिक्षा उसी को मिलती है जो उसे प्राप्त करने का इच्छुक है। जिज्ञासु व्यक्ति को मिली हुई शिक्षा स्थायी होती है।

अर्जुन कहते हैं –

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

अर्थात् में आपका शिष्य हूँ एवं आपकी शरण में आया हूँ अतः जो साधन

मेरे लिए कल्याण कारक है, वह मुझसे कहिये।

अर्जुन का अपने गुरु/मार्गदर्शक के प्रति यह आत्मसमर्पण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अपने शिक्षक के प्रति विनम्रता, विश्वास एवं पूर्ण श्रद्धा ये, तीन बातें शिक्षार्थी के लिए आवश्यक हैं। ऐसा होने पर ही शिक्षा आचरण (व्यवहार) में आती है। जो शिक्षा व्यवहार में न आए, केवल पाठ्यपुस्तकों में रहे, उसकी समाज एवं जीवन के लिए कोई उपयोगिता नहीं है। अत: हम जिससे मार्गदर्शन, शिक्षा चाहते हैं उसके प्रति पूर्णतया श्रद्धावान रहना चाहिए। केवल बहस करने के लिए अथवा आनंद लेने के लिए शिष्य को प्रश्न नहीं करना चाहिए। प्रश्न सारगर्भित एवं जिज्ञासु प्रकृति के होने चाहिए। विषय की स्पष्टता होने तक, विषय-वस्तु पूरी तरह समझ में आने तक परि प्रश्न - (पूरक प्रश्न) पूछना चाहिए, यह भी अर्जुन हमें सिखाते हैं। कहीं संशय हो तब भी गुरु से विषय को स्पष्टता के लिए कहना ही चाहिए।

गीता के तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में ऐसी ही स्थिति बन जाती है जब अर्जुन को ज्ञान एवं कर्म में से अधिक श्रेष्ठ क्या है? यह समझ नहीं आता है तो वह उलाहने जैसे भाव से (उलाहना भी आदर पूर्वक) श्रीकृष्ण से कहते हैं -

व्यामिश्रेणेव वाक्येन
बुद्धिं मोहयसीव में।
तदेकं वद निश्चित्य
येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥(2 ध्याय 3)

अर्थात् - 'आप मिले-जुले वाक्यों से मेरी बुद्धि को मोहित (भ्रमित) कर रहे हैं इसलिए निश्चित करके वह एक बात कहिये जिससे मेरा कल्याण हो।'

इस श्लोक से तत्कालीन भारत में गुरु-शिष्य के मध्य आत्मीय संबंधों की झलक भी मिलती है। शिक्षक शिक्षार्थी के मध्य आत्मीय संबंध होने चाहिए तथा बड़ी कक्षाओं में सम्बंध मैत्रीपूर्ण भी होने चाहिए। यद्यपि अर्जुन ने श्रीकृष्ण को गुरु माना, भगवान माना, उन्हें सर्वेसर्वा मानकर स्वयं को उनके प्रति समर्पित कर दिया, तब भी श्रीकृष्ण उन्हें मित्र कहकर ही संबोधित करते रहे। यह अच्छे शिक्षक की विशेषता है। विद्यार्थी आदेशपूर्ण व्यवहार अथवा तानाशाही की बजाय मित्रतापूर्ण व्यवहार से जल्दी सीखते हैं। इस प्रकार गीता का भी संदेश है कि गुरु-शिष्य संबंध मधुर-आत्मीय होने चाहिए।

भगवद्गीता वास्तव में भारतीय शिक्षा शास्त्र का महान ग्रंथ है। गीता की विषयवस्तु, दर्शन एवं तत्त्व तो अद्भुत है ही, उसे कहने की शैली भी अनुकरणीय है। विद्यार्थी को अपने प्रश्न/जिज्ञासा अपने गुरु के सामने कैसे व्यक्त करनी चाहिए, यह बताते हुए चौथे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं -

तद्विद्धि प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते
ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।

अध्याय 4 श्लोक 34

अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे जानने वाले ज्ञानीजन के पास जाना चाहिए, उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करना चाहिए, उनकी सेवा करनी चाहिए एवं कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करना चाहिए, तब वे ज्ञानीजन ज्ञान का उपदेश देते हैं।

गीता का ज्ञान एवं कर्म संदेश तो अद्भुत है ही उसका समापन भी उतना ही अनुकरणीय एवं प्रेरक है। अच्छा शिक्षक छात्रों को पढ़ाने के बाद अवश्य पूछता है कि उन्हें समझ में आया अथवा नहीं। छात्रों को समझ में आए बिना केवल पाठ्यक्रम पूरा करवाने के लिए आगे-आगे पढ़ाते रहने में अध्यापन की सार्थकता नहीं है। अत: गीता में श्रीकृष्ण का यह अंतिम श्लोक समस्त शिक्षकों के लिए प्रेरणा वाक्य है।

भगवान श्रीकृष्ण एक आदर्श शिक्षक के रूप में अर्जुन से पूछते हैं कि अभी तक जो इतना समझाया वह समझ में आया भी या नहीं। वे कहते हैं -

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ
त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः
प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥

भावार्थ - हे पार्थ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्त से श्रवण किया? और हे धनञ्जय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?।। (अध्याय 18/ श्लोक 72)

अर्थात 'हे पार्थ ! अभी जो समझाया वह तूने एकाग्रचित्त होकर सुना? और तेरा अज्ञान व सम्मोह नष्ट हुआ या नहीं?'

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन का अंतिम श्लोक भी सारे विद्यार्थियों के लिए आदर्श, अनुकरणीय है। सारी बात समझ में आने के बाद अर्जुन ने स्वयं को पूरी तरह से अपने मार्गदर्शक श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया। वे कहते हैं -

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा
त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः
करिष्ये वचनं तव॥

अध्याय 18 श्लोक 73

हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, और अब में आपके कहे अनुसार ही करूँगा। गुरु के प्रति यह विश्वास चाहिए, तब सफलता मिलती है और अर्जुन भी विजयी ही हुआ। इस प्रकार श्री गीता जी शिक्षकों एवं विद्यार्थियों दोनों के लिए पठनीय, स्मरणीय एवं अनुकरणीय है। अर्जुन ने एक अद्भुत विद्यार्थी का जीवन चरित्र हमारे सामने रखा है।

ऐसे गुरु एवं ऐसे शिष्य जहाँ हों, वहाँ विजय होनी ही है। अत: गीता के अंतिम श्लोक में संजय भी कहते हैं कि जहाँ श्रीकृष्ण एवं अर्जुन हैं, वहाँ श्री (वैभव), विजय एवम विभूति होती है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो
यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो
भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ❑

भक्ति साहित्य ने संपूर्ण भारत को दुर्दिन में जीने की राह दिखलाई। संघर्ष की सामर्थ्य दी। संस्कारों को संरक्षित किया। राष्ट्र को अखंडित रखने की भावना दी। भाषा का परिष्कार किया। कवित्व को यशस्वी बनाया। आशा की किरण को प्रसारित किया। जन चेतना को संस्कारित किया। शास्त्र ज्ञान को प्रांतीय भाषाओं में लोक तक पहुँचाया। प्रकृति के साथ जीना सिखाया। लोक गायन, नृत्य, कला तथा वाद्य को विकसित किया। रामलीला तथा रासलीला को नए रूप-रंग के साथ प्रारंभ कर उसे विकसित और स्थापित किया। जनरुचि तथा चेतना का आदर करते हुए उपासना के मार्ग को प्रशस्त किया। छुआ-छूत तथा जाति बंधनों को तोड़कर उपास्य तथा उपासक की एकता को सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया।

संत साहित्य की व्यापकता और समाज बोध

प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
अधिष्ठाता
कला संकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर (राज.)

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' सर्वाधिक प्रतिष्ठित है। आचार्य शुक्ल ने भक्तिकाल का समय 1318 से 1643 ई. निर्धारित किया है। अनेक इतिहास ग्रंथों के काल निर्धारण, साक्ष्य और मान्यताओं को ध्यान में रखकर डॉ. नगेन्द्र ने भक्तिकाल का समय 'चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक' स्वीकार किया है। आदिकाल में भक्ति विषयक रचनाएँ लिखी गयीं। रीतिकाल में भक्ति साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया। इस तरह से भक्तिपरक रचनाओं के लेखन का कालखंड बहुत लंबा है। भक्तिकाल के अनेक प्रतिष्ठित कवि रीतिकाल में लिख रहे थे। कई संप्रदायों के प्रतिष्ठित और चर्चित रचनाकारों का जन्म रीतिकाल में हुआ।

हिंदी साहित्य में भक्ति काल का अध्ययन करते समय आलवार तथा नायनमार भक्तों की चर्चा आवश्यक रूप से की जाती है। 'भगति द्राविड़ी ऊपजी लाए रामानंद' तथा 'उत्पन्ना द्राविड़े देशे वृद्धि कर्णाटके गता। क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्र गुर्जरे जीर्णतां गता:।।' की व्याख्या में सम्पूर्ण दक्षिण भारत, महाराष्ट्र तथा गुजरात की भक्ति चेतना और परंपरा को हिंदी साहित्य तथा भक्ति परंपरा बोध के अन्तर्गत समझने का प्रयास किया जाता है। पूर्वोत्तर भारत, बंगाल तथा ओडिशा में लिखे गए भक्ति साहित्य की चेतना सम्पूर्णता में भक्ति प्रवाह को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करती है। जम्मू-कश्मीर क्षेत्र तथा पंचनंद का भक्ति साहित्य भक्ति की समझ को पुष्ट करता है। सम्पूर्ण भक्ति साहित्य को 'आंदोलन' के रूप में पढ़ा गया है। तमिल भाषा का प्राचीनतम साहित्य 'संगम साहित्य' है। इसका समय 500 ई.पू. से 200 ई.पूर्व तक माना जाता है। तमिल साहित्य के इतिहास में धार्मिक या भक्ति साहित्य का समय 600 से 1200 ई. तक माना जाता है। यानी हिंदी भक्ति साहित्य के प्रारम्भ से पूर्व ही तमिल भक्ति साहित्य का कालखंड पूर्ण हो जाता है। शैवमत के चार आचार्यों - तिरुज्ञानसंबंधर, तिरुनावक्करसर, सुंदर तथा मणिक्यवाचगर को 'नायनमार' कहा जाता है। वैष्णवमत को मानने वाले प्रमुख

बारह भक्त हुए। उन्हें 'आलवार' नाम से जानते हैं। ये भ्रमणशील संत थे। इनकी रचनाओं में सगुणोपासना के भाव विह्वल गीतों के अतिरिक्त रहस्यवादी भी हैं। द्वादश प्रमुख आलवार संतों में सर्वाधिक रचनाएँ तिरुमंगै आलवार और नम्मालवार की प्राप्त होती हैं।

कन्नड़ भाषा का प्राचीनतम प्राप्त ग्रंथ 'कविराज मार्ग' है। इसके लेखक राष्ट्रकूट नरेश नृपतुंग हैं। इनका समय 814 से 877 ई. है। यह काव्यशास्त्र का ग्रंथ है। इससे सिद्ध होता है कि कन्नड़ भाषा में रचनाएँ इसके पूर्व प्रारम्भ हो गई होंगी। 12वीं शताब्दी में बसवेश्वर जैसे महान् संत कवि ने कर्नाटक में भक्ति चेतना के साथ ही सामाजिक सुधार पर भी बल दिया। 'वीरशैववाद' के माध्यम से धार्मिक तथा सामाजिक क्रांति की शुरुआत बसवेश्वर ने की। इनके प्रभाव और सामाजिक चेतना से प्रभावित होकर अनेक रचनाकार कन्नड़ भाषा में भक्ति कविता लिखने के लिए प्रवृत्त हुए।

नन्नय का महाभारत तेलुगु साहित्य का आदिग्रंथ है। महाभारत का अनुवाद तेलुगु साहित्य के तीन विद्वानों – नन्नय, तिक्कना तथा एरीना ने किया था। नन्नय ने दो पर्व, 13वीं शती के तिक्कना ने चौथे पर्व से अठारहवें पर्व तक का तथा 14वीं शती के एरीना ने तीसरे पर्व का अनुवाद किया। इन्हें तेलुगु साहित्य में 'कवित्रय' कहा जाता है। तेलुगु भाषा में रचित 'रंगनाथ रामायण' 13वीं शती की कृति है। इसकी भाषा सरल होने के कारण यह जनसमुदाय में अति लोकप्रिय हुई। रचनाकार गोन बुद्धा रेड्डि ने वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है। यह मात्र अनुवाद नहीं है। यह ग्रंथ स्वतंत्र रचनात्मक कृति है जो अपनी छंद योजना, भाषा तथा कवित्व की श्रेष्ठता के कारण लोकप्रिय हुई। अन्य प्रसिद्ध रामायण 'भास्कर रामायण' है। इसके रचयिता भास्कर के अतिरिक्त अन्य चार कवि हैं। पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में अनेक पुराणों का अनुवाद तेलुगु भाषा में हुआ। बम्मेरा पोतना ने 'भागवत' का अनुवाद किया। यह अनुवाद होते हुए भी कला की दृष्टि से अनेक स्थानों पर अनुवाद से पृथक है। 1500 से 1750 ई. तक का समय तेलुगु साहित्य में 'प्रबंध-युग' है। इसे 'रायल युगम्' भी कहते हैं। कृष्णदेव राय तथा उनके दरबारी कवियों ने 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में रचनाएँ प्रारंभ की। इस कारण यह युग उनके नाम के साथ सम्पृक्त हो गया। कृष्णदेव राय संस्कृत, कन्नड़ और तेलुगु के कवि तो थे ही कला तथा साहित्य के संरक्षक के रूप में भी उनकी प्रतिष्ठा तथा ख्याति थी। 'प्रबंध-युग' में भक्ति साहित्य की अनेक रचनाएँ लिखी गयीं।

गुजराती साहित्य का मध्यकाल राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल का समय है। गुजराती साहित्य के इतिहास में 1456-1650 तक के समय को 'पूर्व मध्यकाल' कहा गया है। इस भाषा के प्रारंभिक काल में अपभ्रंश की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी गईं। मध्यकाल में अपभ्रंश के प्रभाव को रेखांकित कर सकते हैं लेकिन विशेष रूप से इस समय भक्ति की रचनाएँ लिखी गईं। कवियों ने पौराणिक चरित्रों को केंद्र में रखकर अपनी रचनाओं को सुमधुर और आस्थावान बनाया। इस दृष्टि से नरसिंह मेहता, मीराबाई, भालण, नाकर, विष्णुदास तथा अखो जैसे कवियों का नाम उल्लेखनीय है। इन कवियों के भजनों ने लौकिक जीवन को पवित्रतापूर्वक नैतिक बल और साधन के साथ जीने की प्रेरणा दी वही पारलौकिक जीवन और प्रभु से मिलन के प्रति उत्कंठा जगाई। जीवन की आकांक्षा और दृष्टि को पवित्र बनाने का प्रयत्न इनकी रचनाओं का उद्देश्य है। भक्त कवि के रूप में साधन और साध्य की पवित्रता तथा अनेक प्रकार के झंझावातों के बीच दृढ़तापूर्वक खड़े रहने की चेतना को जन-जन में भरने का सफल प्रयास किया। नरसिंह मेहता के भजन सामान्य जनता में अति लोकप्रिय हुए। भालण की भक्ति में उपास्य के नामों को लेकर भेद नहीं है।

वे संस्कृत के भी प्रतिष्ठित विद्वान थे। उनकी रचनाओं में कादंबरी, दशमस्कंध, नलाख्यान तथा रामबालचरित्र प्रमुख हैं। उन्होंने आख्यान कविताएँ लिखीं। नाकर और विष्णुदास ने भी आख्यान लिखे। इन कवियों ने रामायण और महाभारत का अपने लेखन के लिए उपयोग किया ही पुराणों की कथाओं को भी अपनी शैली और भाषा में लिखा। गुजराती साहित्य में अखो की प्रतिष्ठा वेदांती कवि के रूप में है। अपने विस्तृत पर्यटन और सत्संग के दौरान वेदान्त का गहन अध्ययन कर गुजराती कविता में उसे सरस और गेय बनाकर प्रस्तुत किया।

भक्ति साहित्य की धारा मराठी के कवियों द्वारा सर्वसमावेशी बनी। ज्ञानदेव ने भगवद्गीता की व्याख्या की। इसे ज्ञानेश्वरी टीका कहते हैं। हिंदू समाज को रूढ़ियों से बचाने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ज्ञानेश्वरी विद्वानों के साथ ही आमजन में लोकप्रिय हुई। उन्होंने भक्ति के मार्ग में आने वाली जाति की बाधाओं को तोड़ा। नामदेव जैसे सुप्रसिद्ध भक्त उनके शिष्य बन गए। नामदेव शिंपी (दर्जी) जाति के थे। वे विट्ठल के परम भक्त थे। उनका पूरा परिवार भक्ति के साथ रचनाकर्म में प्रवृत हुआ। भक्ति साहित्य की दृष्टि से एक लंबी परंपरा मराठी साहित्य में दिखलाई पड़ती है। इस दृष्टि से जनाबाई, गोरा कुम्हार, सांवता माली, नरहरि सुनार, चोखामेला, बिसोवा खेचर, जगमित्र नागा, जोगा परमानंद, राका कुम्हार, सिद्धेश्वर महाराज, संत एकनाथ, तुकाराम तथा समर्थ रामदास का नाम उल्लेखनीय है। संत नामदेव की भक्ति से हिंदी कवियों ने प्रेरणा ली। कबीरदास, दादूदयाल, रज्जब तथा सुंदरदास ने उनकी भक्ति की प्रशंसा में साखियाँ लिखीं।

उड़ीसा के प्रमुख संत हैं- सारलादास, बलरामदास, जगन्नाथदास, उपेंद्रभज, गोपालकृष्ण तथा भीमा भोई। सारलादास

ने महाभारत की रचना की। यह संस्कृत महाभारत का अनुवाद नहीं है। उड़ीसा के जनजीवन के साथ रचा गया महाकाव्य है। बलरामदास की रामायण उड़ीसा के सामाजिक और प्राकृतिक जीवन से युक्त है। जगन्नाथदास संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने भागवत का उड़िया भाषा में अनुवाद किया। अपने अनुवाद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए जगन्नाथ मंदिर के प्रांगण में एक वटवृक्ष के नीचे बैठकर तीर्थयात्रियों को अनुवादित कथा सुनाया करते थे। संस्कृत में लिखी भागवत कथा जो आमजन के लिए दुर्लभ थी उसे उड़िया भागवत ने जन-जन तक पहुँचाया।

असमिया साहित्य का प्रारंभ ही वैष्णव प्रभाव की रचनाओं के साथ होता है। असमिया की प्रथम रचना हेम सरस्वती लिखित 'प्रहलाद रचित' है। इनकी दूसरी रचना 'हरगौरी संवाद' है। माधवकंदलि ने 'रामायण' की रचना की। असमिया भक्ति साहित्य का चरमोत्कर्ष 15वीं शताब्दी के महापुरुष शंकरदेव की रचनाओं में दिखलाई पड़ता है। उन्होंने नाटकों की रचना की। रामानंद की तरह भक्ति का द्वारा सबके लिए खोल दिया। शंकरदेव के कार्य को उनके योग्य शिष्य माधवदेव ने गति प्रदान किया। अन्य कवियों में अनंत कंदलि, भट्टदेव तथा रामचरण ठाकुर हैं।

बंगला का भक्ति साहित्य चौहदवीं शताब्दी के मध्य में महान कृष्ण भक्त कवि चंडीदास के साथ प्रारंभ होता है। इनके नाम से सहस्त्रों गीत बंगाल की जनता में लोकप्रिय हैं। 15वीं शती के कवि कृतिवास ओझा ने बंगला भाषा में रामायण लिखी। चैतन्य और उनके अनुयायियों के प्रभाव से भी हिंदी में कृष्ण भक्ति साहित्य रचा गया। चैतन्य की साधना स्थली नवद्वीप बंगला संस्कृति के साथ ही वैष्णव धर्म के महान केंद्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। संस्कृत के वैदुष्य की परम्परा वहाँ पड़ी और विकसित हुई। बांग्ला में मंगलकाव्यों की रचना ने भक्ति चेतना को विकसित किया। पंजाब में गुरुनानक देव जैसे यशस्वी रचनाकार हुए। गुरु अर्जुनदेव ने 'आदिग्रंथ' का संकलन-संपादन कर उसे स्थायी यश प्रदान किया। भक्ति कविता की सर्वस्पर्शी धारा पंजाब में प्रवाहित हुई। यह समस्त प्रकार के भेदों से परे थी। परिणाम स्वरूप बड़ी संख्या में भारतीय जनता उनसे प्रभावित हुई। भक्ति के साथ स्वाभिमान और राष्ट्रीय चेतना को पंजाब के संतों ने सम्पृक्त किया। योद्धा कवि खड़े हुए। पहाड़ी क्षेत्र के सभी प्रांतों में भक्ति साहित्य की स्थापित परंपरा है। संतों ने प्रांत, जाति और भाषा की दीवार तथा बंधनों को तोड़कर रचनाएँ की। उनके लिए भारत भूमि प्रमुख थी। वे अपने सामर्थ्य के अनुसार लंबी यात्रा पर निकलते थे तथा धर्म एवं सात्विक कर्म के प्रति दृढ़ रहने की भावना को प्रमुखता देते हुए उस पर चलने की प्रेरणा देते थे। हिंदी भाषी क्षेत्र में महान एवं विश्रुत भक्तों की बड़ी सूची है। कुछ प्रमुख कवि हैं - कबीरदास, रैदास, तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, रसखान, कुंभनदास, दादूदयाल, जम्भेश्वर, लालदास, चरणदास, रज्जब, वषना, वाजिंद, धरमदास, सहजोबाई, दयाबाई, प्राणनाथ, जशनाथ, घासीदास, गुलाल, भीखा साहब, पल्टू, धनीधरमदास, दरियादास, मलूकदास, बावरी साहिबा, संत सदना, पीपा, सेन, धन्ना, त्रिलोचन, नाभादास, यारी साहब, बुल्लेशाह, तुलसी साहब, शिवनारायण, जयतराम, जगजीवनदास, राघवदास, निश्चलदास आदि।

उड़ीसा के प्रमुख संत हैं- सारलादास, बलरामदास, जगन्नाथदास, उपेंद्रभज, गोपालकृष्ण तथा भीमा भोई। सारलादास ने महाभारत की रचना की। यह संस्कृत महाभारत का अनुवाद नहीं है। उड़ीसा के जनजीवन के साथ रचा गया महाकाव्य है। बलरामदास की रामायण उड़ीसा के सामाजिक और प्राकृतिक जीवन से युक्त है। जगन्नाथदास संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने भागवत का उड़िया भाषा में अनुवाद किया। अपने अनुवाद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए जगन्नाथ मंदिर के प्रांगण में एक वटवृक्ष के नीचे बैठकर तीर्थयात्रियों को अनुवादित कथा सुनाया करते थे। संस्कृत में लिखी भागवत कथा जो आमजन के लिए दुर्लभ थी उसे उड़िया भागवत ने जन-जन तक पहुँचाया।

भक्ति साहित्य ने संपूर्ण भारत को दुर्दिनों में जीने की राह दिखलाई। संघर्ष का सामर्थ्य दिया। संस्कारों को संरक्षित किया। राष्ट्र को अखंडित रखने की भावना दी। भाषा का परिष्कार किया। कवित्व को यशस्वी बनाया। आशा की किरण को प्रसारित किया। जन चेतना को संस्कारित किया। शास्त्र ज्ञान को प्रांतीय भाषाओं में लोक तक पहुँचाया। प्रकृति के साथ जीना सिखाया। लोक गायन, नृत्य, कला तथा वाद्य को विकसित किया। रामलीला तथा रासलीला को नए रूप-रंग के साथ प्रारंभ कर उसे विकसित और स्थापित किया। जनरुचि तथा चेतना का आदर करते हुए उपासना के मार्ग को प्रशस्त किया। छुआ-छूत तथा जाति बंधनों को तोड़कर उपास्य तथा उपासक की एकता को सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। सम्पूर्णता में समाज को समरस बनाकर पुरातन भारतीय संस्कृति की धारा को निर्मलता के साथ अनेक बाधाओं के बीच प्रवाहित किया। स्थिर बुद्धि से भक्तिमार्ग पर चलने वालों के लिए कबीर की यह पंक्ति कितनी बड़ी आशा का संदेश देती है -

चंदा जइहें सुरजौ जइहें,
जइहें पवनो पानी।
कह कबीर इक भक्त न जइहें,
जिनकी मति ठहरानी।। ❑

संत - साहित्य में जीवनोपयोगी नैतिक शिक्षा

डॉ. आदित्य कुमार गुप्ता
सह आचार्य,
राजकीय कला महाविद्यालय,
कोटा (राज.)

भारतवर्ष आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों का पोषक, रक्षक राष्ट्र है। इस देश में ऋषियों, महर्षियों, तपस्वियों, साधकों की अमृतवाणी ज्ञान-निर्झर-धारा हर युग में प्रवाहमान रही है, परंतु हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल जिसे आचार्यों ने भक्ति काल कहा है, में ऐसे अनेक संत-भक्तों का अवतरण हुआ जिन्होंने अपने नैतिक मानवीय मूल्यों एवं मानवतावादी चिंतन व लोकमंगलमयी साधना से जन-जन के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। ऐसे संतों ने न केवल लोकजीवन से सीधे तौर पर जुड़कर अपनी ज्ञान-साधना, नैतिकता पूर्ण सदुपदेश, सदाचार, भक्ति, वैराग्य एवं आत्मसाक्षात्कार की साधना से जन सामान्य को अपनी ओर आकर्षित किया अपितु उन्हें विविध सामाजिक, धार्मिक बुराइयों से दूर रहने का संदेश देते हुए मानव जीवन की सार्थकता, महत्ता का बोध कराया तथा जीवन की विविध समस्याओं, कष्टों और प्रतिकूलताओं का आशा, विश्वास, धैर्य से सामना करते हुए आत्म कल्याण के मार्ग पर चलने का आग्रह किया। ऐसे संत कवियों में ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, स्वामी रामानंद, कबीर, पीपा, धन्ना, रैदास, जम्मनाथ, नानक, धर्मदास, गरीबदास, हरिदास, दादूदयाल, सुन्दरदास, रज्जब, धरनीदास, गुरुगोविन्द सिंह, यारी साहब, चरनदास, सहजो बाई, दयाबाई, रामचरन, गुरुजाम्भो जी, साहबराम, संत पलटू साहब प्रभृति विशेषोल्लेखनीय हैं।

इन संत कवियों ने सम्पूर्ण भारत वर्ष में घूम-घूम कर भारतीय संस्कृति एवं आध्यात्मिक साधना का प्रचार-प्रसार करते हुए मानव जीवन में नैतिक मूल्यों का महत्त्व व उपयोगिता को बताया। इन्होंने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी भाव-विभोर वाणियों द्वारा आधात्मिक साधना, सामाजिक अभ्युत्थान और मानव कल्याण के प्रति अपने विचार प्रकट किये तथा मानव समाज को बाह्याडम्बरों, माया-मोह, कनक-कामिनी मांसाहार, तीर्थाटन, छल-कपट झूठ आदि का विरोध करते हुए संयम दया, करुणा, संतोष, ईश्वर-विश्वास आदि से सम्पन्न बनाने का प्रयास किया।

नैतिक शिक्षा, नैतिक आचरण और व्यवहार के लिए दी जाती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य में नैतिकता का विकास होता है। मानव चरित्र के सर्वमान्य मानवीय गुणों, वैशिष्ट्य को व्यवहार में लाना ही नैतिकता है। इसके अन्तर्गत धर्म, सदाचरण, नैतिक कर्त्तव्य, मानवीय गुण, आध्यात्मिक विकास, अन्तःकरण की शुद्धता, लोक मंगल भावना, सेवा, सत्य, अंहिसा, आपसी सौहार्द, निस्वार्थ प्रेम आदि वे समस्त तत्त्व आते हैं जो मानव चरित्र का निर्माण करते हैं। नैतिकता ही वह खूबी है जो हमारे समाजिक होने को प्रमाणित करती है। हमें बेहतर ढंग से मानव समाज कल्याणार्थ जीवन जीना सिखाती है। नैतिक शिक्षा से हमारा जीवन

परिष्कृत होता है और नीर-क्षीर विवेकी दृष्टिकोण विकसित होता है। संत कवियों ने सामाजिक एकता एवं नैतिकता का उद्घोष अपनी वाणियों के द्वारा किया, जिससे निम्न वर्ग के लोगों में हीन भावना समाप्त हुई तथा स्त्रियों को समाज में बराबर का स्थान मिला। सभी संतों का ध्येय नैतिक सीख के माध्यम से मानव-एकता और पारस्परिक सद्भाव था। इसीलिए उन्होंने जाति पाँति का विरोध कर मानव धर्म की प्रतिष्ठा की। कबीर कहते हैं ।

जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान।।

संतों की साधना व्यक्तिगत होते हुए भी समष्टिगत होती है। वह सामाजिक उत्थान एवं कल्याण की भावना से आप्लावित होती है। इसीलिए संतों ने स्वयं शुद्ध, पवित्र एवं मानवीय गुणों से परिपूर्ण रहकर सात्विक जीवन व्यतीत किया और लोगों के सामने नैतिक आदर्शों से परिपूर्ण जीवन का उदाहरण प्रस्तुत किया। हमें दूसरों में बुराई देखने की अपेक्षा स्वयं में पनप रही बुराईयों को दूर करना चाहिए कबीर कहते हैं -

बुरा जो देखने मैं चला बुरा न मिलिया कोय ।
जो मन खोजा आपना मुझ-सा बुरा ना कोय।।

स्वभाव से मस्तमौला फक्कड़ कबीर ने बड़ी निर्भीकता से माया-मोह कनक-कामिनी, काम, क्रोध, लोभ-मोह, जैसे दुर्गुणों का विरोध करते हुए जीवन में नैतिकता, अनुशासन एवं मानवीय मूल्यों को आत्मसात कर संतोष, दया, क्षमा, करुणा आदि मानवीय भावों से जीवन को परिपूर्ण, सहज, स्वाभाविक बनाने का आग्रह किया है। छल-कपट जैसे विकारों से दूर रहने की शिक्षा देते हुए कबीर कहते हैं -

कबीरा तहाँ न जाइए जहाँ कपट का हेत। जालू कली कनीर की तन रीतो मन सेत।। इक डाइन मेरे मन बसै, नित उठि मेरे जिय को डसै।। या डाइन के लरिका पाँचे रे। निसिदिन मोहि नचावै नाच! रे कबीर बड़ी दृढ़ता के साथ कहते हैं कि व्यक्ति को बाह्याचारों से दूर रह कर अन्त: करण की पवित्रता से भगवान का नाम स्मरण करते हुए जीवन यापन करना चाहिए। वे कहते हैं - करका मनका छाँडि के, मनका मन का फेर।। राम भजै सो जानिए, जाकै आतुर नाहीं। संत संतोष लीयै रहै, धीरज मन माहीं।। जन कौं काम क्रोध व्यापै नहीं त्रिष्णा न जरावै। प्रफुल्लित आनंद में गोविंद गुण गावै।

संत साहित्य व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व मानवता का साहित्य है। संतों ने आत्म साधना, पवित्रता, धैर्य, ज्ञान, करुणा दया आदि मानवीय भावों से मनुष्य जीवन को परिपूर्ण बनाने का संदेश दिया। उन्होंने अपनी वाणियों के माध्यम से भारतीय समाज में जड़ें जमाये बैठी अनेक सामाजिक कुरीतियों, कुपरम्पराओं, रूढ़ियों, आडम्बरों, जातिगत भेद भाव, ऊँच-नीच, कर्मकाण्ड, पाखण्ड आदि का प्रतिकार करते हुए आम जन को इनके दुष्परिणामों से सावचेत कर सादा जीवन उच्च विचारों से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी। विविध समस्याओं ग्रसित, पीडित एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ मानव समाज को प्रेम, दया सौहार्द तथा मर्यादा पूर्ण जीवन तथा पवित्र आचरण का संदेश दिया। मध्यकाल का समस्त संत साहित्य नैतिकता पूर्ण सदाचरण तथा मानवीय मूल्यों का भण्डार है। मनुष्य अपने आचरण, व्यवहार और मानवीय मूल्यों की साधना से महान होता है। जन्म एवं जाति से कोई महान नहीं होता। संत रैदास कहते हैं -

जाति-जाति में जाति है,
जो केतन के पात।।
रैदास मनुष्य ना जुड़ सकै,
जब तक जाति न जाति।।

मनुष्य का मन जब तक काम-क्रोधादि विकारों से मुक्त नहीं होता तब तक हृदय में मानवीय गुणों का विकास सम्भव नहीं है और जब तक मानवीय गुण विकसित नहीं होते तब तक भगवान की आराधना सम्भव नहीं है। इसीलिए संत रैदास नैतिकता की शिक्षा देते हुए कहते हैं -

संतों अननि भगति यह नाहीं। जब लग सिरजत मन पाँचों गुन, व्यापत हैं या माहीं सोई आन अंतर करि हरि सौं, अपमारग को आनै। काम क्रोध मद लोभ मोह की पल पल पूजा ठाने।। हरि सा हीरा छाँडि कै, करै आन की आस। ते नर जमपुर जांहिंगे, संत भाषै रैदास।।

संत दादूदयाल ने भी व्यक्ति समाज और राष्ट्र की खुशहाली हेतु नैतिक आचरण, मानव एकता, अखण्डता, सद्भाव, समानता, सहिष्णुता, मानव - प्रेम, समन्वय, सहयोग, सौहार्द आदि मानवीय भावनाओं के पोषक तत्वों का अपनी वाणी द्वारा संदेश। उन्होंने बताया कि संसार के सभी मनुष्य समान हैं। सभी को अपने-अपने जातिगत भेदभाव की भावना, अहं, सामाजिक धार्मिक आडम्बरों को त्याग कर प्रेम, सद्भाव और कल्याण के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए -

भारतीय संत साहित्य मानवतावादी साहित्य है। प्रायः सभी संत-भक्तों ने अपनी ज्ञान साधना के माध्यम से मानव जीवन के परिष्कार एवं सांसारिक त्रिविध तापों से मुक्त रह सकने की विविध रूपों में शिक्षा दी। संतों के चिन्तन का केन्द्र सर्वमानव है। इन संतों ने अपने साहित्य के माध्यम से समररस, परिष्कृत नैतिक आचार-विचारों से परिपूर्ण उत्तम समाज का आदर्श प्रस्तुत किया। ऐसा आदर्श समाज जिसमें मनुष्य संस्कारवान् सदाचरण से युक्त, शील, संतोष, संयम के मार्ग पर चलते हुए आत्म साक्षत्कार कर सके और छल-कपट बेईमानी झूठ चोरी निंदा आदि बुराईयों से बच सके।

भाई रे ऐसा पंथ हमारा। द्वेष रहित पंथ गहिपूरा, अवरण एक आधारा। वाद-विवाद काहू सौं नाही, माहीं जगै थे न्यारा। समदृष्टि सुभाइ सहज में, आपहिं आप विचारा।। दादू समकरि देखिए, कुंजर कीट समान। दादू दुविधा दूर करि, तजि आपा अभिमान।।

स्वामी रामानदं के शिष्य कबीर के गुरु भाई संत शिरोमणि पीपा ने अपने साहित्य के माध्यम से समस्त मानव समाज को जीवन में नैतिकता मानवीय मूल्य दान-दया, करुणा, क्षमा सहन-शीलता, कर्मयोग परमार्थ की भावना, तथा धर्म-कर्म के समन्वय पर बल दिया है। संत पीपा मानवतादी चिन्तक साधक थे। उनकी साधना सामाजिक कल्याण की साधना है। उनकी साधना के केन्द्र में लोक है। मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगना पड़ता है, क्योंकि कर्म का दैवीय विधान अटल है। वे कहते हैं -

पीपा पाप न कीजिए अलगो रहिजे आप। करनी जाती आपणी, कुण बेटो कुण बाप।। पीपा मन पंछी भया, जांह तहाँ उड़ जाय। जाँह जैसी संगत करे ताँह तैसा ही फल पाय।।

संत पीपा ने अपने उपदेशों में स्पष्ट कहा है, कि मनुष्य एवं पशु में धर्म, नैतिकता और मानवीय गुणों का ही अंतर हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन, पशु और मनुष्य में समान हैं। आज लोगों में क्षमा, दया, करुणा, सेवा, दान आदि नैतिक मानवीय मूल्यों का अभाव होता जा रहा है। इसीलिए मनुष्यों में पशुता की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। नैतिक शिक्षा के अभाव में आज हम देखते हैं कि समाज में मार-काट हिंसा, बलात्कार, आतंकवाद, भ्रष्टाचार जैसी समस्याएँ दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में संत कवियों की वाणी भटकते मानव समुदाय को सत् मार्ग पर चलने की शिक्षा देती है। संत पीपा कहते हैं -

छिमा, दया, हिरदै नहीं, कही न सांची कूत पीपा जे जीव पीड़ते, तै पशु शुद्र अछूत।। अलस अधीर छल ईर्ष्या काम क्रोध मद क्रूर। पीपा जिणई जीतिया, ते ही जन सांचा सूर।। पाँचतत्व को पूतलो करता घणो घमण्ड। पीपा सोच न संचरे, पड्यो रहे पिपण्ड । पीपा जिनके मन-कपट तन पर उजरो भेष।

तिनके मुख कारो करो, संत जना के लेख। जीवन में समन्वय की भावना की शिक्षा देते हुए वे कहते हैं -

फूल बगीचा में घणा सबसे सुन्दर रूप।
पीपा जब मिल छबै, भासै रूप अनूप।।

इसी तरह विश्नोई पंथ के प्रवर्तक गुरु जाम्भोजी ने अपनी 'सबद वाणी' में समस्त मानव समाज को नैतिकता, मानवीय गुण तथा अनुशासन बद्ध जीवन जीने का संदेश दिया है। वे कहते हैं कि मनुष्य की कथनी-करनी में समानता होना आवश्यक है। व्यक्ति को सदाचार के मार्ग चलना चाहिए। मनुष्य अपने मानवीय गुणों एवं नैतिकता पूर्ण शुद्ध पवित्र अन्त:करण से जब कार्य करता है तो उसके कार्य सर्वजन हिताय होते हैं। वे कहते हैं - उत्तम कुली का उत्तम न होयवा, कारण किरिया साँरु। पहलै किरिया आप कमाइये तो औरा फरमाइये।। घणा दिन का बड़ा कहिबा बड़ा न लंधिवा पांरु। उत्तम कुली का उत्तम न होयबा, कारण किया सारूँ।।

संत जाम्भोजी एक सच्चे लोक धर्मी चिन्तक थे। उन्होंने अन्य संतों की तरह नाना प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संघर्षों से त्राहि-त्राहि करती जनता को नैतिक जीवन यापन करने की शिक्षा देकर आध्यात्मिक आनंद तथा सुख शांति के मार्ग से परिचित कराया। इनके शिष्य संत साहबराम भी आत्मतत्व वेत्ता, लोकमंगल साधना के संत थे। इनका समस्त साहित्य मानवीय कल्याण चेतना से अनुस्यूत है। तत्कालीन संक्रमण काल में संत साहबराम ने अपने नैतिक उपदेशों से समाज और संस्कृति की प्रहरी के रूप में रक्षा की। नैतिक शिक्षा के मूल तत्त्व धर्म, समन्वय अंहिसा, प्रेम, परोपकार, त्याग, दान, क्षमा, शौच, संयम, तप, संतोष आदि इनकी शिक्षा के मूल आधार हैं। वे कहते हैं -

ऊदो अतनी करणी करै, धारै धरम पाप हरै।। ऊदो दान हरिभजन कर क्रोड मुखी गए पार।। जीव जन्तु की रच्छया कर है, रुख बदले जो कोई मर है।

औरो तारै आप तरहै, जाका काज सारासर है। दया धरम की बात का, संत गुरु कहो विचार। क्रिया बिहूंणा मानवी, तिसका किसा अचार ।। सुख बोलो जै सोच झूठ नहीं भखियै नेम झूठ सूं जाय जीव बस राखिए।

निष्कर्षत : कहना यह है कि भारतीय संत साहित्य मानवतावादी साहित्य है। प्राय: सभी संत-भक्तों ने अपनी ज्ञान साधना के माध्यम से मानव जीवन के परिष्कार एवं सांसारिक त्रिविध तापों से मुक्त रह सकने की विविध रूपों में शिक्षा दी। संतों के चिन्तन का केन्द्र सर्वमानव है। इन संतों ने अपने साहित्य के माध्यम से समरस, परिष्कृत नैतिक आचार-विचारों से परिपूर्ण उत्तम समाज का आदर्श प्रस्तुत किया। ऐसा आदर्श समाज जिसमें मनुष्य संस्कारवान् सदाचरण से युक्त, शील, संतोष, संयम के मार्ग पर चलते हुए आत्म साक्षत्कार कर सके और छल-कपट बेईमानी झूठ चोरी निंदा आदि बुराईयों से बच सके। इसके लिए इन संतों ने रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, वाणी की शुद्धता, परोपकार, समदृष्टि, दया, धर्म, त्याग, दान, सात्विक आचरण परदु:ख कातरता आदि नैतिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है - सत्यनिष्ठा संतों की सदाचार मूलक दृष्टि उनकी सामाजिक चेतना को भी उजागर करती है। संत साहित्य के माध्यम से एक ऐसी संश्लिष्ट चेतना अभिव्यक्ति पर सकी है, जिसने नैतिक जीवन मूल्यों को नई गरिमा प्रदान की है, इसमें सहज हृदयोगार ही नहीं स्वानुभूत विचार भी समाहित है। ❑

प्रियंका कुमारी गर्ग

सहायक आचार्य,
हिंदी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर (राज.)

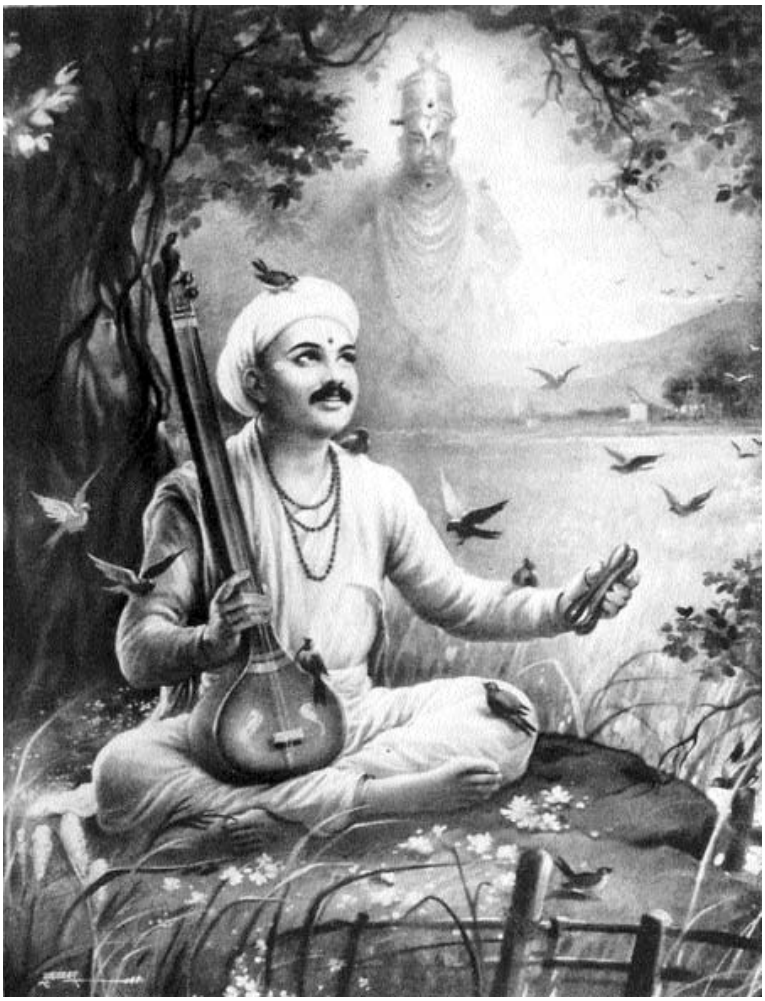

संत साहित्य का प्रदेय

'संत' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों ने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। महाभारत में कहा गया है, 'आचरणलक्षणां धर्मः, सन्तश्चा-चारलक्षणाः।' अर्थात् 'सदाचरण' संत का प्रमुख लक्षण है। 'भागवत', स्कं 1, अ.19, श्लोक 8 के अनुसार 'पवित्रात्मा' होना संत का पर्याय समझा जाता है। 'प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः।' भर्तृहरि के अनुसार 'सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः।' अर्थात् 'परोपकार' संत का धर्म माना गया है। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास जी ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने 'संत' शब्द की व्युत्पत्ति 'शांत' से मानी है अर्थात् जिसने अपनी इच्छाओं को शांत कर लिया है, वही संत है। परशुराम चतुर्वेदी 'संत' शब्द को 'सत्' से जोड़ते हैं अर्थात् जिसने सत् रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया है, वह संत है। भारतवर्ष में ऐसे पवित्रात्मा, सदाचारी, परोपकारी, सज्जन, तत्त्व चिंतन को जानने वाले संतों की एक दीर्घ परंपरा है, जिन्होंने भारतीय संस्कृति और समाज के उन्नयन में अपना योगदान दिया।

भारत की सुदीर्घ संत परंपरा में दक्षिण से ज्ञानेश्वर, नामदेव और त्रिलोचन का नाम लिया जा सकता है तो उत्तर भारत की संत परंपरा में कबीरदास, रैदास, गुरु नानक और दादू दयाल जैसे नाम शामिल हैं। इन संतों ने अपनी फुटकर पद रचना में जो वाणियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, बहुत से साखी, रमैनी, कवित्त, सवैया जैसे विविध छंदों में समाज को अपने उपदेश दिए हैं। संतों के उपदेश मौखिक परंपरा के रूप में आज भी समाज में गाए जाते रहे हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि संतों ने अपने आचरण के द्वारा समाज के सामने एक ऐसा आदर्श खड़ा किया, जिसमें समाज की संपूर्ण समस्याओं का समाधान भी निहित है। योग और भक्ति में अपना समय बिताने वाले ये संत अपने तत्कालीन समाज से तनिक भी उदासीन नहीं रहे। संत साहित्य का सबसे बड़ा प्रदेय एक ऐसे समतामूलक समाज की कल्पना है, जिसमें अमीरी-गरीबी, धर्म, जाति, स्त्री-पुरुष के सभी बंधनों को तोड़ कर सभी मनुष्य प्रेम के साथ जीवन व्यतीत करें। कबीरदास, रैदास, धन्ना, पीपा, सेन, जैसे अधिकांश संत समाज के निम्न समझे जाने वाले वर्ग से आते थे। संत नामदेव और रैदास ने अपनी वाणियों में कहीं-कहीं अपनी जाति का उल्लेख कर इस पीड़ा को व्यक्त किया है। इसीलिए संत रैदास ने लिखा है -

जाति-जाति में जाति है,
जो केतन के पात।
रैदास मनुष ना जुड़ सके,
जब तक जाति न जात।।

मनुष्य को जोड़ने की सबसे बड़ी शर्त जातिविहीन समाज की कल्पना है। धर्म के नाम पर लड़ते हिंदू-मुस्लिम को

ललकारते हुए कबीर कहते हैं –

अरे इन दोहुन राह न पाई ।
हिंदू अपनी करै बड़ाई,
गागर छुवन न देई।
बेस्या के पायन-तर सोवै,
यह देखो हिंदुवाई।
मुसलमान के पीर,
औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै,
घरहिं में करै सगाई।
बाहर से इक मुर्दा लाए,
धोय-धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठीं,
घर-भर करै बड़ाई।
हिंदुन की हिंदुवाई देखी,
तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो!
कौन राह ह्वै जाई।

मध्यकालीन भारत के ये संत राह चलते, भिक्षा मांगते साधु नहीं हैं। जूते गांठते संत रैदास का मन चंगा होने पर 'कठौती में ही गंगा' हो जाती है। कबीर निर्गुण निराकार की उपासना करते हुए 'झीनी-झीनी चदरिया' बुनते रहते हैं। धन्ना भगत अपने खेत को 'निपजाते' रहते हैं। ये सभी संत आजीविका हेतु काम करते हैं, कोई भिखमंगा नहीं है। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए सक्रिय जीवन का आचरण, यही उनके कर्म का उपदेश है। संत कबीर कहते हैं –

काल करै सो आज कर,
आज करै सो अब।
पल में परलय होएगी,
बहुरि करैगो कब।।

मध्यकाल में माया को भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा समझा गया। इसीलिए कई स्थानों पर संतों ने स्त्री के माया रूप की निंदा की है।

नारी नसावै तीन गुण,
जो नर पासै होय।
भक्ति मुक्ति निज ग्यान में
पैठ सकै ना कोय।।

इसीलिए कई बार यह भ्रम पैदा होता है कि संत स्त्री-विरोधी हैं, परंतु ऐसा नहीं है। संत जानते हैं कि स्त्री परिवार की धुरी है और गृहस्थ धर्म के पालन के लिए स्त्री का होना अति आवश्यक है। धन्ना भगत कहते हैं, 'घर को चाहिए गहिनी चंगी।' एकनिष्ठ होकर पति की सेवा करने वाली एवं परिवार का पोषण करने वाली स्त्री की कबीरदास जी भूरी-भूरी प्रशंसा करते हैं।

पतिव्रता मैली भली,
काली कुचिल कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर,
बारौं कोटि सरूप।

संतों के द्वारा अपनाया गया गृहस्थ जीवन केवल अपनी उदरपूर्ति का माध्यम नहीं है; उसमें संसार भर के निस्सहाय प्राणियों के उद्धार की भावना निहित है। परिवार में रहते हुए भी निस्संग भाव से सांसारिक कर्म करते हुए, उपासना का मार्ग अपनाते संत गरीब की चिंता में रत हैं। अपरिग्रही प्रवृत्ति वाला संत अपनी दिनचर्या के बाद केवल इतना चाहता है कि शरीर के पोषण योग्य भोजन प्राप्त हो जाए और उसके बाद द्वार पर आने वाला कोई अतिथि अथवा निर्धन साधु भूखा लौट कर ना जाए।

साईं इतना दीजिए,
जामै कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ,
साधु न भूखा जाय।

ईश्वर चिंतन में लीन संतों का सबसे बड़ा जोर अहंकार के विसर्जन पर है। अहंकार का विसर्जन करके ही ईश्वर की प्राप्ति संभव है। 'जब मैं था तब हरि नहिं, अब हरि है मैं नाहि।' संतों के समस्त चिंतन के केंद्र में मनुष्य है। गुजराती भक्त नरसी मेहता लिखते हैं, 'वैष्णव जन तो तैने कहिए, जे पीर पराई जाने रे।' संसार का कोई धर्म मनुष्यता के धर्म से बड़ा नहीं हो सकता। ईश्वर प्राप्ति का प्रथम मार्ग मनुष्यत्व की प्राप्ति है। निर्गुण निराकार की उपासना करने वाले संत जानते हैं और समस्त संसार को बताते हैं कि जीवात्मा उसी परमात्मा का अंश है और इस जीवात्मा को कष्ट पहुँचा कर कोई उस परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता। बांग्ला के प्रसिद्ध कवि चंडीदास लिखते हैं –

शुनहु रे मानुष भाई रे!
शवार ऊपर मानुष सत्य,
तहार ऊपर कछु नाई रे।

संसार के प्रत्येक धर्म का सार करुणा और प्रेम है। संतों ने अपनी वाणियों में बार-बार प्रेम की प्रतिष्ठा की है। 'ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय' कहने वाले संत प्रेम रूपी कुंजी से मानो समस्त समस्याओं को हल करने का मार्ग दिखा देते हैं। संतों की वाणियाँ जीवन रूपी नदी में आने वाली समस्याओं के विशाल प्रस्तरों के बीच बहती हुई शीतल जल की धारा है; जो मध्य काल से आज तक भारतीय जनमानस को तृप्त करती हुई निरंतर बहती चली जा रही है। ❑

संसार के प्रत्येक धर्म का सार करुणा और प्रेम है। संतों ने अपनी वाणियों में बार-बार प्रेम की प्रतिष्ठा की है। 'ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय' कहने वाले संत प्रेम रूपी कुंजी से मानो समस्त समस्याओं को हल करने का मार्ग दिखा देते हैं। संतों की वाणियाँ जीवन रूपी नदी में आने वाले समस्याओं के विशाल प्रस्तरों के बीच बहती हुई शीतल जल की धारा है; जो मध्य काल से आज तक भारतीय जनमानस को तृप्त करती हुई निरंतर बहती चली जा रही है।

नैतिक शिक्षा और संत साहित्य

डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह
सह आचार्य, हिंदी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर (राज.)

नैतिक शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से लोग दूसरों में नैतिक मूल्यों का संचार करते हैं। यह कार्य घर, विद्यालय, मंदिर, जेल, मंच या किसी सामाजिक स्थान पर किया जा सकता है। नैतिकता का सीधा संबंध मानव जीवन से है। मानव जीवन से परे नैतिकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। साहित्यकार की सामाजिक चिंता उसके साहित्य में मुखरित होती है, जो उसे सामाजिक दायित्वबोध के प्रति जागरुकता प्रदान करती है। इसी से वह सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों और कृत्रिम नैतिकता का विरोध करते हुए समाज हित में नई जीवन दृष्टि का प्रतिपादन करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा को ज्ञान का पर्याय न मानकर जीवन निर्माण, मनुष्यत्व के विकास एवं चरित्र के गठन का साधन माना है। उनका कहना है कि, 'शिक्षा उस जानकारी के समुदाय का नाम नहीं, जो तुम्हारे मस्तिष्क में भर दिया गया हो और वहाँ पड़े-पड़े तुम्हारे सारे जीवनभर बिना पचाये सड़ रहा है। हमें तो भावों या विचारों को ऐसे आत्मसात् कर लेना चाहिए, जिससे जीवन निर्माण, मनुष्यत्व आये और चरित्र का गठन हो। यदि शिक्षा और जानकारी एक ही वस्तु होती तो पुस्तकालय संसार के सबसे बड़े संत और विश्वकोश ऋषि बन जाते।' शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था- 'सभी शिक्षाओं का, अभ्यासों का उद्देश्य मनुष्य निर्माण ही है। समस्त अभ्यासों का अंतिम ध्येय मनुष्य का विकास करना है। जिस अभ्यास के द्वारा मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रवाह और आविष्कार संयमित होकर फलदायी बन सके, उसी का नाम शिक्षा है।' चारित्रिक शिक्षा पर बल देते हुए उन्होंने कहा था- 'शिक्षा मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता का विकास है वह शिक्षा जो जनसमुदाय को जीवन संग्राम के उपयुक्त नहीं बना सकती, जो उनकी चारित्रिक शक्ति का विकास नहीं कर सकती, जो उनके मन में परहित भावना और सिंह के समान साहस पैदा नहीं कर सकती, क्या उसे भी हम शिक्षा नाम दे सकते हैं?'

संतों का तत्कालीन समाज विभिन्न वर्गों, संप्रदायों, पंथों में बँटा हुआ था और इस बाँट का प्रमुख कारण ईश्वर के प्रति नाना प्रकार के संबंध भाव रखना ही था। ऐसे में संतों ने एक ऐसे ईश्वर की धारणा सर्वसाधारण के सामने रखी जो अपने आप में ही मानवतावाद की प्रतिमूर्ति कही जा सकती है। सगुण भक्त जहाँ वर्णव्यवस्था के आलोचक नहीं, वहीं निर्गुण भक्त उसके तीव्र विरोधी जान पड़ते हैं। द्विवेदी जी ने लिखा है कि, दूसरी श्रेणी (निर्गुण के संबंध में) के भक्तों के सामने भगवान सदा प्रतीक रूप में आते हैं।

संतों ने अपने ईश्वर को अजर, अमर, निर्गुण, निराकार माना है। यही ईश्वर सृष्टि का रचयिता, पालक और संहारक है। संतों ने इसी ईश्वर की आराधना का मार्ग प्रशस्त किया है ताकि ईश्वर के नाम पर होने वाली अनैतिकता को खत्म किया जा सके और मानवता को प्रसारित किया जा सके। संतों का ब्रह्म अत्यन्त निराला, अमर, अगम, एवं अगोचर है। वह शरीरगत निश्ते-नातों से परे हैं। दादू ने कहा है

बिन श्रवणहु सब कुछ सुणै,
बिन नैनहु सब देखै।
बिन रसना मुख सब कुछ बोलै,
यह दादू अचिरज पेखै।

संत कबीर का भी चिंतन है कि परमात्मा ने एक ही बूंद से संपूर्ण संसार की रचना की है। जन्म से न तो कोई ब्राह्मण बनकर आता है न ही कोई मुसलमान बनकर। अतः उपवास, तीर्थ, गंगा-स्नान, तिलक लगाना सब व्यर्थ है। कबीर कहते हैं -

जप, माला, छापा, तिलक,
सरै न एको काम ।
मन काँचे नाचे बृथा,
साँचे राँचे राम।।

नीतिग्रंथ भी इन संतों की बातों के सबल पक्षधर हैं -

अयं निजः परोवति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

पंचतंत्र संत कवियों ने द्वन्द्वरहित कथनी को करनी में बदलने का सुझाव दिया। ये मानव-समाज की मौलिक एकता के पक्षधर थे। ये पूर्ण मानवता की स्थापना के लिए दृढ़ थे। नैतिक नियमों के आचरण पर उनका जोर था। संत साहित्य के मर्मज्ञ मानते हैं कि संतों का कपट, पाखंड, वाग्जाल तथा अत्याचार से कोई संबंध नहीं था। इनका लक्ष्य जीवन के किसी एक पक्ष को न बदलकर संपूर्ण मानव का कायापलट करना था।

संतों के जीवनकाल में समाज दुःखों से परिपूर्ण था। मानवता विभिन्न कुरीतियों एवं बाह्याडंबरों से कराह रही थी। ऐसे में संतों ने जनसाधारण को धैर्य के साथ जीने की सलाह दी। उनका विचार है कि समाज में सभी वर्गों के लोग समाजरूपी शरीर के अंग हैं। इनमें किसी भी अंग को कष्ट होगा तो समाजरूपी शरीर को ही कष्ट होगा। अतः समाज को स्वस्थ रखने के लिए संत दादू कहते हैं -

दादू दून्यू भाई हाथ पग,
दून्यू भाई काण।
दून्यू भाई नैन द्वै,
हिन्दू मुसलमान।।

संतों के हृदय में समाज के साथ सहानुभूति थी। मलूकदास कहते हैं –

दुखिया जाने कोइ दुखवै,
दुख एअति दुख होय।
दुखिया रोइ पुकारि है,
सब गुड़ माटी होय।।

इसी मानवता के बल पर सभी संतों ने सारे राष्ट्र को ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व को नैतिकता का पाठ पढ़ाया। संतों ने भाषा, जाति, संप्रदाय का भेद मिटाकर मानव मात्र को सदाचार और सहानुभूति का ज्ञान दिया। इनका मत है कि ईश्वर किसी विशेष जाति या धर्म का नहीं है। सभी मानव समाज में एक ही प्राण का स्पंदन होता है, सुख-दु:ख का भावबोध भी उनमें समान ढंग से ही होता है। वर्ण, जाति, धर्म, नाम आदि ऊपरी वस्तुएँ हैं। मानवता ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। सभी धर्मों का यही मूल है। आडंबरी पंडितों, मुल्लाओं के चक्रजाल से बचना चाहिए। इन लोगों का कार्य तो मात्र संप्रदायों में जहर फैलाना होता है। संतों की नज़र में राम, रहीम, कृष्ण, करीम में कोई अंतर नहीं है।

मध्यकाल के सभी संत भविष्यद्रष्टा थे उन्होंने वेदों, उपनिषदों, पुराणों, उपसंहिता, वेदान्त, कुरान, बाइबिल सभी धर्मग्रंथों में लिखी आचरण संहिता को तभी स्वीकार किया जब तक उन्होंने अपने अंत:करण के अनुभव द्वारा इसे सत्य सिद्ध नहीं कर दिया। संतों का अंत:करण का अनुभव ही सत्य का आधार था। बिना अनुभव के उन्होंने धर्मग्रंथों में लिखी किसी भी बात को स्वीकार नहीं किया। इन ग्रंथों में छिपी कट्टर अवधारणाएँ, मान्यताएँ, बाह्याचारी परंपराओं को संतों ने स्वीकार नहीं किया था। संतों ने ऐसा सरल, सहज मार्ग बतलाया जिस पर जाति, वर्ग, संप्रदाय वाला व्यक्ति चलकर अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। संतों ने एक ऐसा मार्ग दिखलाया जो संसार के सभी मानवों के बीच प्रेम, सौहार्द, सहिष्णुता और विश्वबंधुत्व का भाव पैदा करने वाला था। संतों ने संसारी मनुष्य के आचरण निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समाज में हो रहे नैतिक मूल्यों के पतन के विरुद्ध उनकी वाणी में तीव्र प्रतिरोध दिखाई पड़ता है। उन्होंने पारंपरिक रूढिबद्ध जर्जरित नैतिक मूल्यों के स्थान पर नये नैतिक प्रतिमान प्रस्तुत किये।

आज ऐसी शिक्षा की आवश्कता है, जो पूरे समाज और देश में नैतिकता उत्पन्न कर सके। यह नैतिकता नैतिक शिक्षा के द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है। वर्तमान विश्व के विकास के प्रमुख आधार विज्ञान और प्रौद्योगिकी हैं। वर्तमान विश्व में न केवल ज्ञान का विस्फोट, जनसंख्या का विस्फोट, गतिपूर्ण सामाजिक परिवर्तन आदि हो रहे हैं, अपितु हमारे परिवार तथा समाज का ढाँचा भी उसी गति से परिवर्तित हो रहा है। इन सभी का हमारे नैतिक मूल्यों पर प्रभाव पड़ा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान-आधारित विकास की जीवन-शक्ति हमारे नैतिक एवं आध्यात्मिक आधारों से प्राप्त हो। शिक्षा सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। वर्तमान समय में शिक्षा में कई नये प्रयोग हुए हैं, और आमूलचूल परिवर्तन भी, फिर भी शिक्षा शब्द का अर्थ अपनी गरिमा के अनुरूप आज भी अपनी महत्ता को परिभाषित कर रहा है।

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा को ज्ञान का पर्याय न मानकर जीवन निर्माण, मनुष्यत्व के विकास एवं चरित्र के गठन का साधन माना है। उनका कहना है कि, 'शिक्षा उस जानकारी के समुदाय का नाम नहीं, जो तुम्हारे मस्तिष्क में भर दिया गया हो और वहाँ पड़े-पड़े तुम्हारे सारे जीवनभर बिना पचाये सड़ रहा है। हमें तो भावों या विचारों को ऐसे आत्मसात् कर लेना चाहिए, जिससे जीवन निर्माण, मनुष्यत्व आये और चरित्र का गठन हो। यदि शिक्षा और जानकारी एक ही वस्तु होती तो पुस्तकालय संसार के सबसे बड़े संत और विश्वकोश ऋषि बन जाते।' शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था- 'सभी शिक्षाओं का, अभ्यासों का उद्देश्य मनुष्य निर्माण ही है।

संतों ने सामाजिक चिंता के संदर्भ को विविध परिप्रेक्ष्यों में उजागर किया है। समाजगत रूढ़ियों, अंधविश्वासों, जर्जरित संस्कारों एवं अन्याय के विरुद्ध संघर्ष आदि तत्त्वों को नैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से अनुचित मानकर उसका संदर्भ सहित विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनकी वाणी में जात-पात, सांप्रदायिकता, कर्मकांड, बाह्याडंबर के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। यहाँ उल्लेख्य है कि उनकी वाणी में समष्टि प्रेम महत्त्वपूर्ण नैतिक मूल्य के रूप में उपस्थित हुआ है। इसके अलावा इन संतों ने सबसे बड़ा कार्य हिंदू-मुस्लिम वर्ग में एकता स्थापित करने का किया है। इसी स्थापना की आज भी जरूरत है। अत: हिंदू-मुस्लिम ऐक्य को स्थापित करने के लिए समाज आज भी निर्गुण संतों के मार्ग पर चलकर अपनी कायाकल्प कर सकता है। प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को सामान्य मनुष्य के रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया। इस संबंध में डॉ. द्विवेदी जी का कथन उल्लेखनीय है- 'निर्गुण काव्यधारा के संतों ने मानवीय एकता को खंडित करने वाले बाह्याचारों, बाह्याडंबरों, निस्सार रीति-रिवाजों, हिंदू-मुस्लिम तथा अन्य जातियों में व्याप्त विद्रोहों, कर्मकांडों आदि को खंड-खंड करके अखंड मानवता का संदेश प्रसारित किया है।' संतों की समाज विषयक नैतिक शिक्षा का लक्ष्य यही है जो आज भी अभीष्ट है। ❑

नीतिशास्त्र और भारतीय संत परंपरा

डॉ. रेखा यादव

सहआचार्य दर्शनशास्त्र,
सम्राट पृथ्वीराज चौहान
राजकीय महाविद्यालय
अजमेर (राज.)

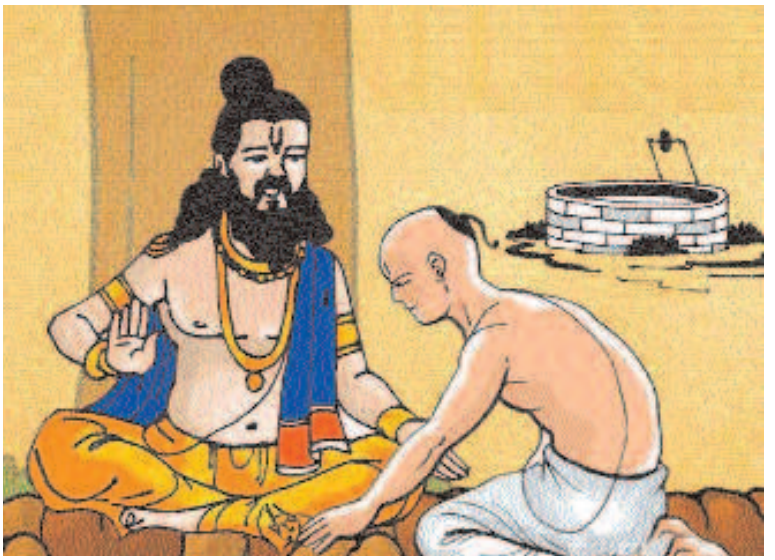

सृष्टि के विकास में मनुष्य अन्य जीवों की तुलना में चेतना की अभिव्यक्ति के उच्चतर स्तर पर है। नैतिक बोध मानव समाज की विशेषता भी है और अतिरिक्त उत्तरदायित्व भी है। क्या करने योग्य है? और क्या नहीं करना चाहिए? ये आधारभूत नैतिक समस्याएँ हैं। वैश्वीकरण के विस्तार से आज अधिकांश समाज बहुसांस्कृतिक स्वरूप लेते जा रहे हैं, नैतिकता सामुदायिक नैतिक स्तरों से ऊपर उठने की माँग करने लगी है। नीतिशास्त्र का उद्‌गम रीति-रिवाज से हुआ है परंतु रीति-रिवाज सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी और रुचिकर होने के साथ-साथ समसामयिक दृष्टि से परीक्षित भी होते रहते हैं जिसके कारण समाज में परंपरा और आधुनिकता का द्वय बना रहता है। आधुनिकता का प्रयोग बहुधा नकारात्मक भाव के साथ होता है क्योंकि इसका मापन सभ्यता के अर्थ में अधिक होता है परंतु सांस्कृतिक अर्थ में कम होता है। सभ्यता मनुष्य समाज के बाहरी रहन-सहन को अभिव्यक्त करती है जबकि संस्कृति के लिए समाज मन की स्वीकृति आवश्यक होती है। इस प्रकार से संस्कृति सभ्यता का भी अनुमोदन विवेक भाव के साथ करती है। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ आचारशास्त्र का भी विकास हुआ है। आज नीतिशास्त्र एक उन्नत विज्ञान है जो पूरी तरह से बौद्धिक विश्लेषण का विषय है। नीतिशास्त्र का परंपरागत स्वरूप आदर्शमूलक है जिसमे नैतिक मापदंडों की स्थापना को ही मुख्य प्रयोजन माना जाता रहा है, परंतु मनुष्य का समाज जीवन इतना जटिल है कि नियम विशेष अथवा मापदंड को निर्धारित कर देना मनुष्य के स्वाभाविक विकास और न्याय के प्रतिकूल हो जाता है।

वर्तमान में विचारकों द्वारा आदर्शमूलक नीतिशास्त्र की तीन धाराओं को स्वीकार किया जाता है - परिणाम निरपेक्षतावादी नीतिशास्त्र, परिणाम सापेक्षतावादी नीतिशास्त्र और सद्‌गुण नीतिशास्त्र। परिणाम निरपेक्षतावादी नीतिशास्त्री ऐसे सार्वभौमिक नियमों की स्थापना का प्रयास करते हैं जिसके आधार पर नैतिक कर्तव्यों का निर्धारण किया जा सके, इस सिद्धांत का दोष यह है कि यह मानवीय कर्म के परिणामों और परिस्थितियों की उपेक्षा कर देता है। परिणाम सापेक्षतावादी सिद्धांत सिर्फ परिणाम को दृष्टि में रखकर नैतिक कर्म की शुचिता की उपेक्षा कर देता है, इस मत के आधार पर अपवित्र साधन से भी शुभ परिणाम की प्राप्ति उचित कही जा सकती है। उक्त सिद्धांतों के दोषों को दृष्टिगत रखते हुए विचारक सद्‌गुण नैतिकता अथवा सदाचार नैतिकता के विचार का समर्थन करते हैं। यह मत कर्म तथा उसके परिणाम की अपेक्षा नैतिक कर्ता को केंद्र में रखकर आचारशास्त्र को प्रस्तुत करता है।

पाश्चात्य नीतिशास्त्र में यूनानी नैतिक दर्शन को सद्‌गुण नीतिशास्त्र के रूप में स्वीकार किया जाता है, क्योंकि सुकरात, प्लेटो और अरस्तू आदर्श मानव स्वभाव को केंद्र में रखते हुए मनुष्य और राज्य की नैतिकता संबंधी धारणा प्रस्तुत करते हैं। मानव समाज में ज्ञान और आचरण की समस्या सार्वकालिक है। महाभारत में दुर्योधन कहता है कि मैं धर्म को जानता हूँ परंतु मेरी इसमे प्रवृत्ति नहीं होती, मैं अधर्म को जानता हूँ परंतु मेरी इससे निवृत्ति नहीं होती। अरस्तू कहते हैं नैतिक सद्‌गुणों के विकास में अभ्यास की महती भूमिका होती है। हमारे यहाँ भी योग दर्शन चित्तवृत्ति निरोध में अभ्यास और वैराग्य की निरंतरता को साधना में आवश्यक मानता है इस प्रकार स्पष्ट होता है कि नैतिक आचरण का अभ्यास सदाचार के पालन में आवश्यक है। परिणाम, परिस्थितियों को केंद्र में रखकर शुभ-अशुभ तय करना सदैव नैतिक नहीं होता तथा आकारिक मापदंडों की स्थापना कर देने से नैतिक क्षेत्र कठोर हो जाता है। इसका मध्यम मार्ग यही है कि कर्तव्य पालन मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाए और ऐसा तभी संभव है जब समाज में तर्क का सदुपयोग होने के साथ सत्य और शुभ के प्रति आस्था भी हो। मात्र तर्क के प्रयोग से नैतिक शुभत्व पैदा नहीं किया जा सकता। आज बौद्धिक समाज की यह एक मूल

समस्या है, तर्क की अतिशयता संदेह को जन्म देती है, हिंसा, अवसाद, द्वेष प्रतिहिंसा का शिकार होकर समाज को ज्ञान आधारित नहीं बनाया जा सकता। तर्क सत्य की परीक्षा में सहायक है परंतु सत्य का अनुभव तर्क से संभव नहीं है।

सत्य और शुभत्व आचरण में अनुभव करने योग्य है यही संत परंपरा का दर्शन है। ब्रह्मज्ञान अथवा सत्य दर्शन के लिए अंत:करण की निर्मलता आवश्यक है। संतों की परंपरा सत्य के आचरण की परंपरा है जिस प्रकार सत्य बहुआयामी होता है परंतु उसमे सामंजस्य और संगतता होती है उसी प्रकार भारतीय संतों का दर्शन मजहब, पंथ और मत-मतांतर की पहचान से मुक्त रहा है। उसकी पहचान सात्विक, निर्मल आचरण है। छल, कपट, स्वार्थ, अहंकार ओर माया के जाल से मुक्त व्यक्ति ही संत है। उसकी सरल, निष्कपट प्रवृत्ति उसे दुर्गुणों के स्पर्श से बचाती है। भारतीय संत परंपरा में संतों के जीवन में विविधताएँ भी हैं - कहीं संत गृहस्थ हैं, कहीं संन्यासी है तो कहीं व्यवसायी भी है परंतु वे संत तभी तक हैं जब तक उनकी जीवन शैली निर्दोष है क्योंकि सद्गुण अर्थात् सदैव सत्य के अनुकूल आचरण उनका धर्म है। इसी कारण भारतीय संत परंपरा ने धार्मिक और सामाजिक आडंबरों का विरोध करते हुए समाज को सच्चे अर्थ में आधुनिक और समरसतापूर्ण बनाया है। संत की निष्ठा सिर्फ सत्य में ही होती है इसलिए उसे ईश्वर का प्रतिनिधि भी कहा जाता है। सतसंकल्पी व्यक्ति निर्भीक होता है इसलिए भारतीय संत परंपरा का मूल्यांकन आधुनिक बौद्धिक दृष्टि में विद्रोही के रूप में भी किया गया है परंतु यथार्थ यही है कि संत की निष्ठा सांसारिक नियमों के प्रति न होकर परम सत्य रूप परमात्मा के प्रति होती है इसलिए भारतीय संतों का योगदान छुआ छूत और जाति विकृति के प्रति अविस्मरणीय है। सदैव सत्य का चुनाव उनकी सद्गुण प्रवृत्ति है। इस अभ्यास को महात्मा गांधी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' से भी समझा जा सकता है।

सद्गुण नीतिशास्त्र आदर्श मानव स्वभाव की समझ के साथ-साथ व्यावहारिक बुद्धिमता को भी आवश्यक मानता है जब हम संत परंपरा के सामाजिक प्रभाव को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार संत जीवन की सहज अस्तित्वमूलक अनुभूतियों को स्पर्श करते हुए जीवन दर्शन का पथ जनसाधारण को स्पष्ट कर देते हैं। सत्ता से स्वतंत्र रहते हुए संतों ने सच्चे जीवन दर्शन की शिक्षा समाज को दी इसका सबसे बड़ा प्रमाण मध्यकालीन संत हैं। आज आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा प्रशासन और प्रबंधन के साथ-साथ सुखपूर्ण जीवन तथा पर्यावरण के संपोषित विकास के समाधान भी संतों द्वारा प्रस्तुत जीवन दर्शन से प्राप्त किए जा रहे हैं। बौद्धिकता से अतिक्रांत होकर आधुनिक समाज ने सहज, सरल जीवन सूत्रों की उपेक्षा की। फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान से सूचनाओं का भंडार प्राप्त हो गया, तकनीकी समाधान प्राप्त हो गए परंतु मनुष्य के विवेक का नैतिक सामर्थ्य विस्मृत हो गया जो संतों के साहित्य और जीवन दर्शन में उपलब्ध है। हॉब्स और फ्रायड के विचारों को ही पूर्ण सत्य मानकर मनुष्य के शुभत्व का विचार धर्म का विषय मान लिया गया परंतु संतों के जीवन ने मनुष्य के उच्चतर रूपों को प्रकट कर आधुनिक समाज को निर्दोष जीवन शैली से परिचित कराया। संत नामदेव, रामानंद, कबीरदास, रविदास, नानकदेव, पलटूसाहब, मीराबाई, तुलसीदास और रामकृष्ण परमहंस जैसे अनेक संतों से होती हुई यह परंपरा आज भी कायम है जो लोक में सत्य और शुभ के प्रति आस्था को बनाए हुए है।

सत्य और शुभत्व आचरण में अनुभव करने योग्य है यही संत परंपरा का दर्शन है। ब्रह्मज्ञान अथवा सत्य दर्शन के लिए अंत:करण की निर्मलता आवश्यक है। संतों की परंपरा सत्य के आचरण की परंपरा है जिस प्रकार सत्य बहुआयामी होता है परंतु उसमे सामंजस्य और संगतता होती है उसी प्रकार भारतीय संतों का दर्शन मजहब, पंथ और मत-मतांतर की पहचान से मुक्त रहा है। उसकी पहचान सात्विक, निर्मल आचरण है। छल, कपट, स्वार्थ, अहंकार ओर माया के जाल से मुक्त व्यक्ति ही संत है। उसकी सरल, निष्कपट प्रवृत्ति उसे दुर्गुणों के स्पर्श से बचाती है।

वर्तमान में हम सभी के समक्ष जो समस्याएँ आ रही हैं उसका कारण मानवीय आचरण का दूषित होना और कानून का दुरुपयोग होना है। लोकतंत्र में स्वतंत्रता का दुरुपयोग नैतिक समाज के लिए संकट पैदा कर देता है। नैतिक नियमों का पालन यदि मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाए तो मानव निर्मित समस्याएँ तो बहुत कम हो सकती हैं और हमारा हमारे राज्य के निवेश का सदुपयोग प्राकृतिक अशुभ से उत्पन्न संकट के समाधान में सफलता के साथ हो सकता है। आधुनिक लोककल्याणकारी राज्यों की नीति विफलता का कारण बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ स्वार्थ के लिए तर्क का दुरुपयोग है। ऐसा ही दुरुपयोग सुकरात के समय यूनान में सोफिस्ट दार्शनिकों द्वारा किया गया था। सुकरात ने इसका समाधान 'स्वयं को जानो' इस रूप में दिया। भारतीय परंपरा में तो आत्मविद्या को ही दुखमुक्ति का वास्तविक समाधान कहा गया है। महात्मा बुद्ध ने भी 'आत्म दीपो भव' की शिक्षा दी। भारतीय लोकमानस में आत्मविद्या की प्राप्ति का मार्ग विद्वानों, दार्शनिकों और संन्यासियों से ज्यादा संतों ने लोकप्रिय बनाया है। आज भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नैतिक आदर्शों की पालना संतों के आदर्श आचरण के साक्षी समाज द्वारा धर्मनिष्ठा के रूप में की जाती है और यह आस्था जीवंत है कि मनुष्य के साथ अंत में पद, प्रतिष्ठा, धन, संबंध नहीं जाएगा बल्कि सदाचार जाएगा। ❑

हिंदी संत काव्य में जीवन दर्शन के विविध आयाम

अनुराग सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर,
श्यामा प्रसाद मुखर्जी महिला महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय भूमि ऋषियों-मनीषियों की भूमि रही है। जिसे आज सनातन परम्परा के नाम से जाना जाता है, उस परम्परा और संस्कृति के निर्माण में इन लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।यह एक बहुआयामी सांस्कृतिक परम्परा रही है जिसमें अनेक विचारों के लोगों का सहअस्तित्व बिना किसी रुकावट के रहा है। लोगों का जीवन दर्शन एकआयामी न होकर वैविध्यपूर्ण रहा है। ऐसे तो भारतीय चिंतन परम्परा बहुत पुरानी है। संस्कृत भाषा में बहुत से ग्रंथ उनकी वाणी को लगातार अग्रेषित करते रहे हैं। बाद में हिंदी साहित्य के मध्यकाल में पूरी संत काव्य परंपरा का ही विकास हुआ जिसमें अनेक कवियों ने जीवन को अलग-अलग नजरिए से समझने-समझाने की कोशिश की। जो बहुआयामी धारा अपने आरम्भ से बहती चली आ रही है वही यहाँ भी अनेक रूपों में दिखाई देती है। प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय लिखते हैं ''मध्यकालीन साहित्य अपनी सम्पूर्ण संरचना में विचार, दर्शन, भाव-भक्ति, आदर्श-यथार्थ, समय-समाज, व्यष्टि-समष्टि, शास्त्र-लोक, उच्चतर नैतिक मूल्यों और चराचर जगत की चिंताओं का बहुरंगी समुच्चय है। इसमें जीवन और जगत की कोई ऐसी गति तथा कोई ऐसा प्रश्न नहीं है जिससे जूझते हुए हमारे कवि उन अनुगूँजों तथा आशयों तक न पहुँचे हों जो मनुष्यमात्र के उज्ज्वल भविष्य के प्रति विवेकपूर्ण संकेत करते हैं।'' यहाँ यह तो स्पष्ट है कि समूचे मध्यकालीन साहित्य का वैविध्य जीवन के हर क्षेत्र को व्याख्यायित करते हुए गुजरता है। यही बात संत साहित्य के साथ भी लागू होती है।

संत काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में हम कबीर को मानते हैं लेकिन ऐसा नहीं है कि उसके अतिरिक्त कोई और अच्छी रचानाएँ कर ही नहीं रहा था। एक लम्बी फेहरिस्त है रचनाकारों की जिन्होंने जीवन के प्रति नई दृष्टि देकर साहित्य और समाज को अधिक समृद्ध किया। कबीरदास, रैदास, जंभनाथ, हरिदास निरंजनी, गुरुनानक, सींगा, लालदास, दादूदयाल, मलूकदास, बाबा लाल, सुंदरदास, श्रीचंद, जगजीवनदास, रज्जब, गुरु अर्जुन सिंह, निपट निरंजन, अक्षर अनन्य, धर्मदास, धन्ना, पीपा आदि जो विशुद्ध रूप से संत थे और उन्होंने बेहतर साहित्य लिखा और उनकी शिक्षाओं को आज भी यदि हम अपने जीवन में उतार लें तो सबका जीवन सुंदर हो जाएगा।

जीवन के सुचारू संचालन के लिए धर्म एक आवश्यक पहलू है। परंतु धर्म के नाम पर होने वाले पाखंड का जितना तीखा विरोध कबीर के यहाँ मिलता है अन्यत्र शायद ही मिले। वे लिखते हैं -

'दिन भर रोज़ा रहत हैं
रात हनत हैं गाय ।
यह तो खून वह बंदगी
कैसी खुसी खुदाय।।'

ईश्वर के नाम पर दिन भर व्रत रखने के बाद रात को जीव हत्या कर व्रत तोड़ा जा रहा है। यह किस प्रकार की धार्मिकता है?

या फिर जब वे लिखते हैं -

'मैं कहता हूँ आखिन देखी,
तू कहता कागद की लेखी।'

वे शास्त्रों के चक्कर में न फँसकर जीवन और जगत के कटु यथार्थ के

आधार पर अपनी बात कहते हैं। आज के बाज़ारीकरण के इस दौर में जहाँ सबको सब कुछ चाहिए। जीवन जीने के सभी बेहतर साधन मुहैया हो जाने के बाद भी और अधिक धन की लिप्सा के लिए लोग परेशान हैं, जबकि हमारी मनीषी परम्परा में 'संतोषम् परम् सुखम्' की बात की गयी है जिसे कबीर जैसे संत इस प्रकार कहते हैं –

साईं इतना दीजिए जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाए।।

अर्थात् जीवन जीने के लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता नहीं अपितु इतना हो जाए कि जीवन चलता रहे। दरवाजे पर आए हुए व्यक्ति को निराश न लौटना पड़े बस। आज हम अधिक परेशान इसीलिए हैं क्योंकि हमें अधिक से अधिक चाहिए। हम संग्रह की बात करते हैं। यह संग्रह ही मुसीबत की जड़ है। यदि यह बात मान ली जाए तो जीवन की आधी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी।

संत रैदास कहते हैं कि 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' यदि आपका मन पवित्र है तो ईश्वर के दर्शन स्वयं के अंदर होंगे। उसके लिए कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है।

सिख सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु नानक लिखते हैं–

'जो नर दुःख में दुःख नहिं मानै
सुख सनेह और भय नहिं जाके,
कंचन माटी जानै।'

इन पंक्तियों में जीवन के मानवीय मूल्यों के प्रति सहज अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। एक व्यक्ति के तौर पर हमें अपने समाज में किस तरह रहना है और इसको आगे ले जाने के लिए हमने क्या भूमिका अदा करनी है इसका पूरा ब्योरा संत साहित्य में देखने को मिलता है।

सुंदरदास कहते हैं–

बोलिए तौ तब जब
बोलिबे की बुद्धि होय।
ना तौ मुख मौन गहि
चुप होय रहिए।।

बोलना जीवन की एक महत्त्वपूर्ण कला है। केवल बोलने मात्र से आजकल कितनी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। इसलिए हमें सदैव सावधानीपूर्वक बोलना चाहिए। बोलना कभी-कभी आपको मुसीबत में डाल देता है।जीवन को शांतिपूर्ण ढंग से संचालित करने के लिए ये सब बेहद आवश्यक गुण हैं।

संत नामदेव वर्ण व्यवस्था पर प्रहार करते हुए लिखते हैं –

नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दूध।
तुम कहाँ के ब्राह्मन हम कहाँ के सूद।

वर्ण व्यवस्था के नाम पर आज भी हमारे समाज में जो जातिगत भेदभाव देखने को मिलता है उसका प्रतिकार बहुत पहले से ही इन संतों की वाणी में देखने को मिलता है। संतों ने अपने काव्य में जीवन के हर आयाम को बहुत सुंदर ढंग से छूने की कोशिश की है। जीवन जीने के लिए ज़रूरी सीख आप उनकी वाणियों में से ले सकते हैं। संत कवियों ने सामाजिक सुधार का महत्तर प्रयास किया। कबीर को समाज सुधारक का ही दर्जा दे दिया गया है। इन कवियों ने उस समय की बुराइयों का अपनी रचनात्मकता से प्रतिकार किया। उन लोगों ने हिंदुओं-मुसलमानों के बीच नफरत की दीवार को तोड़कर सामाजिक समरसता बनाए रखने की भरपूर कोशिश की।

गोस्वामी तुलसीदास हिंदी के शीर्ष कवि हैं। हिंदी की विशालकाव्य परम्परा में कविता के लिए एक नया प्रतिमान रचने वाले तुलसीदास अद्‌भुत सामंजस्य के कवि है। वे अपनी कविताओं में जीवन के दो धुर विरोधी छोरों के मध्य बेहतर संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने वाले कवि है। निर्गुण-सगुण, लोक-शास्त्र, शैव-शाक्त, आदि अनेक क्षेत्रों के दो विपरीत ध्रुवों के मध्य एक बेहतर सामंजस्य तुलसीदास के समूचे काव्य संसार में देखने को मिलता है।

झूठ मद अहंकार,
कह तै कांठो लीजै।
ग्यान रतन कहे तास,
जास मन्य घरो पतीजै।

वील्होजी कहते हैं अच्छे विचारों का चिंतन करके, ज्ञानियों की संगति करनी चाहिए। बुद्धिपूर्वक विचार करके पापियों की संगति छोड़ देनी चाहिए। असत्य, विवाद एवं झगड़ों से दूर रहना चाहिए। ग्यान रूपी रतन को ही खरा मानकर चलना चाहिए। अज्ञानी से दूर रहकर उनसे बचकर चलना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास हिंदी के शीर्ष कवि हैं। हिंदी की विशालकाव्य परम्परा में कविता के लिए एक नया प्रतिमान रचने वाले तुलसीदास अद्‌भुत सामंजस्य के कवि हैं। वे अपनी कविताओं में जीवन के दो धुर विरोधी छोरों के मध्य बेहतर संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने वाले कवि हैं। निर्गुण-सगुण, लोक-शास्त्र, शैव-शाक्त, आदि अनेक क्षेत्रों के दो विपरीत ध्रुवों के मध्य एक बेहतर सामंजस्य तुलसीदास के समूचे काव्य संसार में देखने को मिलता है।

वैसे तो एक लम्बी परम्परा है जिससे संतों के साहित्य से जीवन के सभी पहलुओं को देख-समझ सकते हैं। परंतु यहाँ सब कुछ कह या बता पाना सम्भव न होगा। परंतु वर्तमान समय की आवश्यकता है कि संतों की इन बातों को लोगों के बीच में पहुँचाया जाए व अधिक से अधिक लोग इसे यदि अपने जीवन में उतारने का प्रयास करेंगे तो जीवन के साथ समाज भी एक बेहतरी की दिशा में आगे बढ़ेगा। ❑

सन्तों से सीखता - संस्कारित होता भारतीय समाज

ओम प्रकाश पारीक
प्राचार्य एवं सह-आचार्य
(संस्कृत)
राजकीय महाविद्यालय,
आहोर (जालोर)

सन्त समागम हरि कथा
तुलसी दुर्लभ दोय

महान सन्त और कवि गोस्वामी तुलसीदास जी की इन पंक्तियों में सन्त समागम और हरि कथा के महत्त्व को बताया गया है। शिक्षा में औपचारिक रूप से अनवरत अभ्यास से जो उद्देश्य प्राप्त होते हैं वे सन्त समागम से अनायास ही व्यक्ति के आचरण में लभ्य हो जाते हैं। शिक्षा का उद्देश्य है 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् वह शिक्षा या विद्या कहलाती है जो कि जीवन की उलझनों को दूर कर व्यक्ति को स्वतंत्र बनाती है और उसे सुखी करती है। सन्तों ने कहा भी है-

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।
सोच विचार देख मन माहि।।

जीवन में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष पुरुषार्थों के प्राप्त होने पर 'मानव' जीवन की धन्यता मानी गई है। कामनाओं से प्रेरित हो अर्थोपार्जन किया जाता है पर उसमें नैतिकता और शुचिता होने पर ही वह समाज और स्वयं के लिए हितकारी हैं। ये सभी धर्मसम्मत होने चाहिए। अन्ततः चौरासी लाख योनियाँ भोगकर इस मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्म साक्षात्कार भी है। वही परम पुरुषार्थ मोक्ष है। वास्तव में क्षण-भंगुर जीवन से अमृतमय सत्य को प्राप्त करना इस मानव जीवन की प्रतिभा निष्ठा और बुद्धिमत्ता से ही सम्भव है। धर्म पथ पर चलते हुए एवं एक दूसरे के काम आते हुए सादगी पूर्ण जीवन में अपने को सांसारिक काम क्रोध, लोभ मोह आदि बंधनों से मुक्त करना इस 'जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। जीवन में भोग की तुच्छता के कारण उत्तम पुरुषार्थों को प्राप्त करने हेतु हमारे यहाँ सन्त, वैराग्य को अंगीकार करते हैं। गृहस्थ में रहते हुए भी सदगृहस्थ को सादगी और अर्थशुचिता के साथ अपनी कामनाओं की शुद्धि करना और मोक्ष पुरुषार्थ के लिए आचरण करना ही उचित कर्तव्य है। हमारी सन्त परम्परा ने अपने तप और जप तथा आध्यात्मिक आचरण द्वारा समाज जीवन को संस्कारित और शिक्षित करने का प्राचीनकाल से ही कार्य किया है। और आज भी सन्तों द्वारा यह कार्य किया जा रहा है, सन्तों के सान्निध्य से अनायास ही समाज में सद्गुणों का प्रादुर्भाव और दुर्गुणों का तिरोभाव हो जाता है। सन्त समागम और सत्संग से मानव में जो एक विवेक जाग्रत होता है वह जीवन के सभी क्षेत्रों में श्रेयस्कर है। अतः गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में कहा है-

बिनु सत्संग विवेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।

वस्तुतः सत्संग से जो विवेक उत्पन्न होता है उसे ही सुमति कहते हैं। और वह सभी सम्पत्तियों की खान है। इसलिए

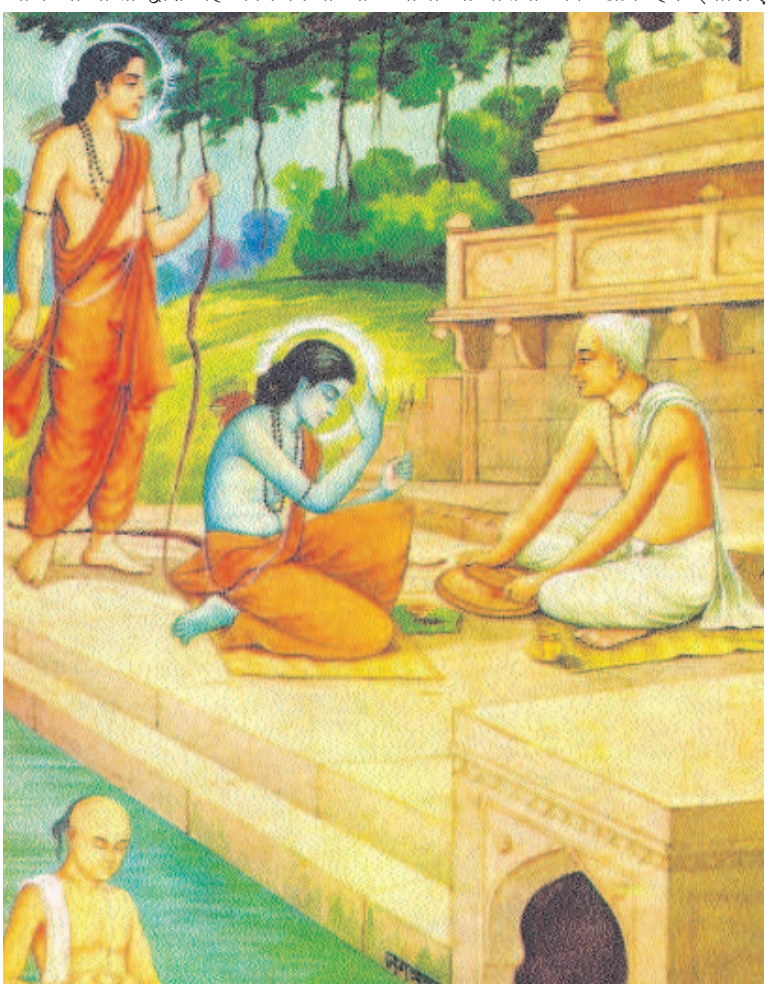

तुलसीदास जी ने कहा -

सुमति कुमति सबके उर रहहीं
नाथ पुराण निगम अस कहहीं
जहाँ सुमति तहं सम्पत्ति नाना।
जहाँ कुमति तहं विपत्ति निधाना।।

इस प्रकार विवेकमय जीवन जीना ही जीवन की धन्यता की कुंजी है। जो कि सन्तों के सानिध्य से मिलता है। गुरुकुल परम्परा में भी हमारे सन्त ऋषियों द्वारा विवेक-प्रधान शिक्षा दी जाती थी। जो कि विद्यार्थियों के सदाचरण में झलकती थी। उस परम्परा में विद्यार्थियों को अनेक कलाओं और कौशलों में निपुण करते हुए दर्शन और अध्यात्म की शिक्षा द्वारा उनकी मूल प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर आचरण की शिक्षा दी जाती थी, जिससे वह विद्यार्थी आगे चलकर समाज में उत्कृष्ट व्यक्तित्व के साथ पथ-प्रदर्शक भी बनता था।

जब वेद विद्या का पठन -पाठन समाज में कम होने लगा तो उस समय हमारे यहाँ की सन्त परम्परा ने वेदों की आत्मा और उसके सन्देश को लोक में जीवन्त बनाये रखा। इसी क्रम में दार्शनिक सन्तों का उद्भव हुआ। आचार्य शंकर (788-820 ई.) को एक महान दार्शनिक, सन्त और धर्माचार्य के रूप में माना जाता है। उन्होंने अद्वैतवाद की स्थापना की थी। आचार्य रामानुज (1016-1137ई.)ने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें सगुण ब्रह्म और भक्ति पर बल दिया। इसी क्रम में रामनन्दाचार्य (1299-1410ई.) ने अपने पंथ में जाति पाति ऊँच-नीच, छुआ-छूत को स्थान न देते हुए समाज की सभी जातियों को अपनी शिष्य परम्परा में स्थान दिया और सीताराम की उपासना का प्रसार करते हुए सर्वसाधारण के लिए भक्ति के द्वार खोल दिए। ऐसे ही बहुत से वैष्णव व सन्तों ने दार्शनिक मत चलाए जिनकी शाखाएँ आज भी प्रचलित हैं और समाज को सुशिक्षित कर रही हैं।

अहिंसा के विचार को प्रमुखता प्रदान करते हुए सत्य, अस्तेय, (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य, अपरिगृह के द्वारा दया, करुणा और सदाचारमय जीवन को उभारने के लिए महावीर स्वामी ने जैन धर्म का प्रादुर्भाव किया। चित्त को निर्मल रखते हुए इन्द्रियों का निग्रह कर साधना करने एवं शील की स्थापना के लिए मार्ग को गौतम बुद्ध ने प्रवर्तित किया।

भोग और भ्रष्टाचार का विरोध कर नाथ अर्थात शिव को आराध्य मानकर नाथ-सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ जिसमें गोरखनाथ का नाम अत्यंत सम्मानित है। भारतीय संस्कृति में वेदों की आस्था और अनुकूलता के साथ वैष्णव, शैव, शाक्त आदि तथा कर्मकाण्ड के विरोध में जैन, बौद्ध आदि तथा इसके अतिरिक्त सिक्ख आदि धर्म जिन शिक्षाओं को लेकर प्रवर्तित हुए थे कालान्तर में उन मतों का प्रचार प्रसार करते हुए सन्तों द्वारा आज भी समाज को संस्कारित और शिक्षित किया जा रहा है, और भविष्य में भी किया जाता रहेगा। सन्तों की सीख और संस्कारों की देन के पीछे उनका स्वानुभुति और तपश्चर्या-मय जीवन ही आधार है। बिना इसके वे समाज के आदर्श एवं प्रेरक नहीं बन सकते। इसलिए महात्मा कबीर ने कहा है-

जो दरसन देखा चाहीऐ
तो दरपन मांजत रहिऐ।
जब दरपन लागे काई।
तब दरसन किया ना जाई।।

यहाँ दरपन मांजने से तात्पर्य तप और स्वानुभूति से ही है। ऐसे ही सिद्धसन्तों को समाज में गुरु का गौरव भी प्राप्त था जो कि रूढ़ि और अज्ञान, अन्धकार को दूर कर समाज को वैज्ञानिकता, ज्ञान और प्रकाश की ओर ले जाते थे। सन्त दादुदयाल जी ने ऐसे गुरु को नाव चढ़ाकर भव सागर से पार करने वाला बताया है-

सांचा सत्गुर जै मिलै,
सब साज संवारै।
दादु नाव चढ़ाइ करि,
ले पार उतारै।।

(दादु दयाल की बानी/
भाग 1, साखी 2 / 11)

सन्त सुन्दरदास जी ने भी ऐसे सन्त गुरु की महिमा को बहुत ही सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है।

गुरु बिनु ज्ञान नाही गुरु बिन ध्यान नाही।
गुरु बिनु आतमा विचार न लहतु है।
गुरु बिनु प्रेम नाही गुरु बिन नेह नाहीं।
गुरु बिनु सीलहु सन्तोष न रहतु है।।
गुरु बिनु प्यास नाही बुद्धि को प्रकाश नाहीं।
भ्रमई को नास नाहीं संसय रहतु है।
गुरु बिन बाट नाहीं कोडा बिन हाट नाहीं।
सुन्दर प्रगट लोक बेद यौं कहतु है।।

(सुन्दर विलास छन्द -15)

वास्तव में किसी गाँव, कस्बे या शहर में स्थित कोई आश्रम और उसमें तपश्चर्या करता हुआ कोई सन्त सम्पूर्ण समाज का केन्द्र बिंदु होता है। आश्रम में आकर सन्त समागम से लोग न केवल सांसारिक दु:खों से तप्त हृदय में शांति धारण करते हैं अपितु ऐसे वैराग्यमय स्थान पर अपूर्व सात्विकता से अपने में विवेक का अनुभव कर विभिन्न जटिल समस्याओं के समाधान भी अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। यूं तो समाज अपनी आवश्यकताओं

सन्तों के सान्निध्य में व्यक्ति प्रसङ्गत: जीवन में प्राप्त होने वाले लाभ और हानि के प्रति सहज और संतुष्ट रह पाता है। सन्त प्रत्येक काल में भारतीय समाज के प्रति अत्यंत जागरूक रहे हैं तथा विभिन्न परिस्थितियों के कारण समाज में आने वाली गिरावट को समझकर उसके उपचार के लिए तत्पर रहे हैं। सन्तों ने मानवधर्म को सबसे ऊपर स्वीकार किया था। जब समाज में बहुत सी रूढियाँ और जाति व्यवस्था तथा कुप्रथाओं ने विकराल रूप धारण कर लिया उस समय वे अपने सत्संग द्वारा समाज व्यवस्था को उत्तम करने हेतु तत्पर हो गये।

की पूर्ति के लिए अपने -अपने कौशल के अनुसार अर्थोपार्जन करता है, किंतु इसके अतिरिक्त भी जीवन सार्थक करने हेतु दया, सहानुभूति, परोपकार, अक्रोध, सहिष्णुता, धैर्य, शुचिता, संयम, सत्य, विवेक आदि अनेक-अनेक गुणों और जीवन मूल्यों के संस्कार आधान हेतु तपोपूतात्मा संतों के वचनों और जीवन चरित्र, उनके द्वारा रचित साहित्य सत्संग आदि का अमिट और अकाट्य प्रभाव होता है। सन्तों के सान्निध्य में व्यक्ति प्रसङ्गत: जीवन में प्राप्त होने वाले लाभ और हानि के प्रति सहज और संतुष्ट रह पाता है। सन्त प्रत्येक काल में भारतीय समाज के प्रति अत्यंत जागरूक रहे हैं तथा विभिन्न परिस्थितियों के कारण समाज में आने वाली गिरावट को समझकर उसके उपचार के लिए तत्पर रहे हैं। सन्तों ने मानवधर्म को सबसे ऊपर स्वीकार किया था। जब समाज में बहुत सी रूढियाँ और जाति व्यवस्था तथा कुप्रथाओं ने विकराल रूप धारण कर लिया उस समय वे अपने सत्संग द्वारा समाज व्यवस्था को उत्तम करने हेतु तत्पर हो गये। सभी के कल्याण एवं अभ्युदय के लिए जगद्गुरु रामानन्दाचार्य कहते हैं-

जात पात पूछे नहीं कोई।
हरि को भजे सो हरि को होई।।

सन्त सुन्दरदास ने वर्णों की गरिमा नष्ट होकर कर्मों में अद्योगति आ जाने पर व्यथित होकर समाज में अपना सन्देश इस प्रकार दिया-

सूत्र गले महि मेलि भयो द्विज,
ब्राह्मण होई के ब्रह्म न जान्यो
क्षत्रिय होई के क्षत्र धर्‌यो शिर।
हयगज पैदल सूं मन मान्यो
वैस्य भयो वपु की वय देखत
झूठ प्रपंच बनीजहि ठान्यो।।
सूद्र भयो मिली सूद्र सरीरहि ।
सुन्दर आप नही पहचान्यो।।

(सुन्दर विलास /21/20)

सन्तों की वाणी हमें जीवन में सीख देकर जागरूक बनाती है और उससे हमारा यह जीवन धन्य हो जाता है। उनकी कठोर वाणी में नारियल के समान मधुर फल विद्मान होता है। सन्त रैदास जी हमें जीवन के प्रति सावचेत करते हुए कहते हैं-

रैन गंवाई सोई कर,
दिवस गंवायो खाई रे।
हीरा यह तन पाई करि,
कौड़ी बदले जाई रे।।

(रैदास जी की वाणी पद / 72)

संत धरमदासजी जो जन्तर मन्तर टोना-टोटका आदि पर अविश्वास व्यक्त करते हुए समाज को सन्देश देते हैं-

मैं तो तोरे भजन भरोसे अबिनासी।
जंत्र मंत्र टोटका नाहि जानौ,
निसुदिन फिरत उदासी।।

(धरमदास जी की शब्दावली पृष्ठ-22)

इसी प्रकार समाज में नारियों के सम्मान और पर-नारी की मर्यादा रक्षण के लिए संस्कार देते हुए सन्तों ने अपनी सीख दी है-

पर नारी पैनी छुरी
मत कोई लावो अंग।
रावन के दस सिर गये,
पर नारी के संग।।

(सन्त बानी संग्रह/1)

समाज में परिश्रम की महत्ता के साथ पात्र व्यक्ति के काम आना उसे समय पर दान देना ही सच्चा पुरुषार्थ है। गुरुनानक देव इस बात को इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

घालि खाइ किछु हथहूँ देइ।
नानक राहु पछाणई सेई।।

(गुरुनानक)

दूसरों के लिए दिया कभी व्यर्थ नहीं जाता महात्मा कबीर अपनी इस सीख से समाज को शिक्षित करते हुए कहते हैं-

ऋतु बसंत जाचक भया,
हरिख दिया द्रुमपात।
ताते नव पल्लव भया,
दिया दूर नहि जात।। (कबीर)

सन्त मलूकदास जी दया और प्रेम के लिए वृक्षों की हरी डाली भी नहीं तोड़ने के लिए कहते हैं। क्योंकि वे मानते हैं कि सब में जीव होता है-

हरी डारि न तोड़िये
लागै छूरा बान।
दास मलूका यों कहें,
अपना सो जिव जान।।

(मलूकदास जी की बानी)

सन्त समाज में सदाचारी जीवन को ही उत्तम मानकर उसके लिए सर्वदा जागरूक रहने की बात कहते हैं क्योंकि सब बातें मिल सकती हैं किंतु लाखों में एक सदाचारी मिलता है-

ज्ञानी ध्यानी संजमी
दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत है
सीलवन्त कोई एक।।

(सन्तों की बानी)

महात्मा कबीर दास जी की सत्य के प्रति श्रद्धा वाली यह साखी समाज में अत्यंत प्रसिद्ध है, तथा विभिन्न अवसरों पर सामान्य जन के भी मुँह से निकलकर यह साखी परस्पर लोक व्यवहार में सावधान करती है।

साँच बराबर तप नहीं,
झूठ बराबर पाप ।
जाकै हृदय सांच है
ताके हृदय आप।।

(कबीर बीजक साखी / 349)

जीवन में सन्तोष ही परम सुख है इस बात से कबीर दास जी संसार को इस प्रकार संस्कारित करते हैं-

साँई इतना दीजिये,
जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहुँ,
साधु न भूखा जाय।। (कबीर)

इस प्रकार प्रारम्भ से ही भारतीय समाज सन्तों के द्वारा दिये जाने वाले संस्कार उनकी शिक्षाओं तथा त्यागमय चरित्र से अनवरत संस्कारित और शिक्षित होता रहा है। सन्त भारतीय समाज के इस प्रकार के प्रकाश स्तम्भ रहे हैं जहाँ अज्ञान, अन्धकार और रूढ़ियाँ सभी दूर दूर तक नष्ट हो जाते हैं तथा समाज में श्रेयस्कर पर्यावरण का प्रादुर्भाव होता है। ❑

संतों की सामाजिक चेतना

प्रो. हितेन्द्र कुमार मिश्र
हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय
विश्वविद्यालय, शिलांग,
मेघालय

'संत' शब्द का प्रयोग साधारणत: किसी भी पवित्रात्मा तथा सदाचारी पुरुष के लिए किया जाता है एवं कभी-कभी यह 'साधु' एवं 'महात्मा' शब्दों का पर्याय भी समझ लिया जाता है। विशिष्ट लक्षणों के अनुसार संत शब्द का व्यवहार केवल उन आदर्श महापुरुषों के ही लिए किया जा सकता है, जो पूर्णत: आत्मनिष्ठ होने के अतिरिक्त समाज में रहते हुए, नि:स्वार्थ भाव से विश्व कल्याण में प्रवृत्त रहा करते हैं ।

''14वीं शताब्दी ईस्वी में महाराष्ट्र के वारकरी संप्रदाय के भक्तों के लिए 'संत' शब्द का प्रयोग किया जाता था। बाद में वारकरी संप्रदाय के अनुयायियों को भी संत कहा जाने लगा। वारकरी संप्रदाय की उपासना बहुत कुछ निर्गुणोपासना सी ही थी।'' बौद्ध सिद्धों के दोहा-कोशों और चर्यागीतियों एवं कबीर की साखियों तथा पदों में अनेक समानताएँ मिलती हैं। जाति-पाति का वैसा ही आक्रोशपूर्ण विरोध, बाह्यडम्बर के प्रति वैसी ही कड़ी फटकारें यहाँ भी दिखाई देती हैं। किन्तु बौद्ध सिद्धों की अपेक्षा वे नाथों से अधिक प्रभावित थे।

''नाथपन्थी कवियों एवं विचारकों के शून्यवाद, उनके द्वारा गुरु की प्रतिष्ठा और सृष्टि-क्रम, आत्मा, जीव आदि के विषय में उनकी मान्यताओं से संत कवि अनेकश: प्रभावित रहे हैं। संत-साधना में योग-प्रक्रिया की जो प्रधानता है उसका मूल स्रोत नाथ-पन्थी साधना ही है।''

''हिन्दी में इस काव्य-परम्परा का प्रवर्तन सर्वथा मौलिक रूप में नहीं हुआ, अपितु यह मराठी में विकसित होती हुई हिन्दी में पहुँची है। हिन्दी में इसे प्रचलित करने का श्रेय भी महाराष्ट्रीय संत नामदेव (1270-1350) को है, जिन्होंने एक ओर उत्तरी भारत में दीर्घकाल तक रहकर अपने विचारों का प्रचार किया तो दूसरी ओर हिन्दी में विपुल पदों की रचना की जिनमें से शताधिक आज भी उपलब्ध हैं।''

संत नामदेव ने मानव समानता का समर्थन एवं जाति-भेद का विरोध करते हुए कहा है-

कहा करउ जाती, कहा करउ पाती।
राम को नामु जपउ दिन राती।।

जाति-भेद के लिए इन संतों के हृदय में कोई स्थान नहीं था। इसके अतिरिक्त उनका अपना उत्थान इसी के विरोध का उदाहरण था, क्योंकि अधिकांश संत या तो निम्न जाति के थे या उच्च जाति से बहिष्कृत एवं तिरस्कृत थे। वह मूर्ति पूजा पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं -

एकै पाथर कीजै पाऊ।
दूजै पाथर धरिए पाऊ ।
जै इहु देऊ तऊ उहु भी देवा।
कहि नामदेव हरि की सेवा।।

वह आगे हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-

हिंदू अंधा तुरकू काणा,
दोहां ते गिआनी सिआणा।
नामें सोई सेविआ
जह देहुरा न मसीत।।

कबीर समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे, जिसमें न कोई हिंदू हो न मुसलमान, न पूजा हो न नमाज, न पंडित हो न मुल्ला, वह केवल मनुष्य हो। सामंती समाज की जड़ता को तोड़ने का जितना कार्य अकेले कबीर ने किया उतना अन्य संतों और सगुणमार्गियों ने मिलकर भी नहीं किया।

अपनी साखियों में कबीर ने आत्मानुभव या आत्म साक्षात्कार का वर्णन किया है। 'सबद' में परमतत्व के उस रूप का वर्णन है जो सगुण-निर्गुण से ऊपर है। रमैनी में मन रमण करता है। इसके लिए प्रतीकों का उपयोग आवश्यक था। कबीर पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने विभिन्न धर्मों, संप्रदायों, जातियों, वर्णों को नकारकर ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया जिसमें धर्म, संप्रदाय, ऊँच-नीच के भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं था। उनके समाज में न कोई हिंदू है, न मुसलमान। सभी मनुष्य हैं, कोई किसी से बड़ा या छोटा नहीं है। पीड़ित, शोषित, अपमानित जनसमाज के दु:ख से जितना सरोकार कबीर का है उतना भक्तिकाल के किसी अन्य कवि का नहीं। उनका गैर समझौतावादी व्यक्तित्व अलग से दृष्टिगोचर होता है।

कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके तीन भाग हैं- रमैनी, सबद और साखी। इसमें वेदांततत्व, हिंदू-मुसलमान को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेमसाधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि की गौणता इत्यादि संबंधी अनेक प्रसंग हैं। वह हिंदुओं तथा मुसलमानों दोनों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं -

पोथी-पोथी पढ़ि जग मुआ,
पंडित भया न कोय,
ढाई आखर प्रेम कै,
पढ़े सो पण्डित होय।

वह हिंदुओं को प्रेम का महत्व बताते हुए कहते हैं कि व्यक्ति को विद्वान बनने के लिए मोटी-मोटी पोथियों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं हैं, अपितु मनुष्य ने यदि ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ लिया है तो इसके अतिरिक्त कुछ पढ़ने की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती है । आगे वह मुसलमानों के लिए कहते हैं-

दिन भर रोजा रहत हैं,
राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी,
कैसे खुसी खुदाय।।

यहाँ वह मुस्लिम समुदाय को अहिंसा का पाठ पढ़ाते हुए कहते हैं कि दिन भर ये रोजा रखते हैं तथा रात्रि में माँस खाते हैं, जहाँ रक्त के माध्यम से ईश्वर की आराधना होती हो वहाँ ईश्वर कैसे प्रसन्न रह सकता है।

''कबीर के समसामयिक संतों में सेन, पीपा, रैदास, धन्ना आदि के अलग-अलग पंथ बताये जाते हैं, पर वे मूलत: कबीर पंथ से ही प्रभावित हैं। इनके अतिरिक्त अन्य संत तथा उनके पंथ- जम्भनाथ का विश्नोई संप्रदाय, नानकपंथ, सिंगापंथ, दादूपंथ, निरंजनी संप्रदाय, मलूकदासी पंथ, सत्तनामी पंथ, सुन्दरदास, सहजोबाई, पल्टूदास आदि कबीर के ऋणी हैं।''

कबीर की विचारधारा के केंद्र में हिंदुओं-मुसलमानों का शोषित-प्रताड़ित वर्ग था तो रैदास के विचार केंद्र में तथाकथित निम्न जाति एवं सवर्ण हिंदुओं का भेदभाव था। रविदास या रैदास जाति व्यवस्था का विरोध करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक जाति में अनेक जातियाँ हैं और व्यक्ति तब तक एक दूसरे से नहीं जुड़ सकता जब तक यह जाति व्यवस्था जड़ से समाप्त नहीं हो जाती। वह कहते हैं -

जाति-जाति में जाति है,
जो केतन के पात।
रैदास मानुष न जुड़ सके,
जब तक जाति न जात।

गुरु नानक की बानियों का कथ्य मूलत: वही है जो कबीर का है, जैसे नाम माहात्म्य, गुरुमहिमा, जाति -पाँति का

विरोध, ब्रह्म की वैयक्तिक अनुभूति, सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि। पर उनके स्वर में गहरी शांति, शीतलता और निर्वैयक्तिकता है। सम्भवत: अपने इन्हीं गुणों के कारण वे राजनीतिक और धार्मिक अत्याचारों के करारे जवाब दे सके। जहाँ स्त्री के सम्मान का प्रश्न है, नानक समूची भक्ति परम्परा से अलग हैं। शायद ही कोई संत या सगुणोपासक महात्मा रहा जिसने स्त्री की निंदा न की हो। किन्तु वे यहाँ अन्य संतों से भिन्न हैं। विदेशी आक्रमणकारियों, विशेषत: मुसलमानों नवाबों और बादशाहों के अत्याचारों का दर्द उन्होंने महसूस किया। वह कहते हैं –

जिन सिर सोहन पटीआ
माँगी पाइ संधूर।
ते सिर काती मुनीअहि
गल बिचि आपै धूड़।।

अर्थात् जिनकी केश-राशि की माँग के बीच सिंदूर सजाया जाता है, उनके केश काट दिये जाते हैं। वह तात्कालिक स्त्री समस्या को उठाते हैं ।

गुरुनानक आगे कहते हैं –

भंड जमी ऐ भंडि निमिऐ
भंड मंगण बीआहु
भंडहु होवै दोसती
भंडहु चलै राहु।।
भंड मुआ भंड मालीऐ
हो वे बंधान।
सो किउ मन्दा आखी
अहि जित जंभै राजान।।

नानक कहते हैं जन्म देनेवाली भी नारी, पत्नी के रूप में भी नारी, फिर उसकी अवमानना क्यों? समकालीन परिस्थितियों में भी इनकी रचनाएँ अत्यंत प्रासंगिक हैं।

दादूदयाल कबीर मार्ग के ही अनुयायी हैं किन्तु उन्होंने एक अलग पंथ चलाया जो 'दादूपंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादू की बानी अधिकतर कबीर की साखी से मिलते-जुलते दोहों में है, कहीं-कहीं गीत के पद भी हैं। निर्गुणमार्गियों की बानी के समान इनकी रचनाओं में भी ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, जाति-पाँति का निराकरण, हिंदू-मुस्लिम का अभेद, संसार की अनित्यता, आत्मबोध इत्यादि। इनका मानना है कि ईश्वर मानव हृदय में वास करता है, इस कारण मंदिर या मस्जिद में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है, वह अपनी इन्हीं पंक्तियों के माध्यम से कहते हैं–

भीतर सेवा बंदगी
बाहिर काहे जाइ।।
दादू देख दयाल को
सकल रहा भरपूर।
रोम-रोम में रमि रह्या
तू जनि जानै दूर।।

रज्जब दादू के निकटवर्ती शिष्य थे। विषयवस्तु में वे दादू से अलग नहीं हैं, पर अनुभूति की गहराई तथा दो टूक बात कहने की प्रणाली कबीर की याद दिलाती है।

''14वीं शताब्दी ईस्वी में महाराष्ट्र के वारकरी संप्रदाय के भक्तों के लिए 'संत' शब्द का प्रयोग किया जाता था। बाद में वारकरी संप्रदाय के अनुयायियों को भी संत कहा जाने लगा। वारकरी संप्रदाय की उपासना बहुत कुछ निर्गुणोपासना सी ही थी।'' बौद्ध सिद्धों के दोहा-कोशों और चर्यागीतियों एवं कबीर की साखियों तथा पदों में अनेक समानताएँ मिलती हैं। जाति-पाति का वैसा ही आक्रोशपूर्ण विरोध, बाह्याडम्बर के प्रति वैसी ही कड़ी फटकारें यहाँ भी दिखाई देती हैं। किन्तु बौद्ध सिद्धों की अपेक्षा वे नाथों से अधिक प्रभावित थे।

कबीरदास की तरह संतों को संबोधित करते हुए वे लिखते हैं –

संतों, मगन भया मन मेरा।
अहनिसि सदा एक रस लागा,
दिया दरीबै डेरा
कुल मर्यादा मेंड़ सब
भागी बैठा भाठी मेरा।
जाति पाँति कछु समझौं नाहीं,
किसकूँ करैं परेरा।

मलूकदास हिंदुओं तथा मुसलमानों दोनों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य में हिंदू भी है और मुसलमान भी है, कोई किसी से भिन्न नहीं है। क्योंकि मनुष्यता ही सबसे बड़ा धर्म है। वह कहते हैं–

सबहिन के हम सबै हमारे।
जीव जंतु मोहि लगैं पियारे।।
हमहीं मुल्ला हमहीं काजी।
तीरथ, बरत हमारी बाजी।।
हमहीं दसरथ हमहीं राम।
हमरै क्रोध औं हमरै काम।।

अंतत: यह कहा जा सकता है कि सभी निर्गुण संत कवियों ने समाज में व्याप्त जाति संबंधी भेदभाव, रूढ़ियों, मिथ्या-आडंबरों तथा अंधविश्वासों की मुखर आलोचना की। मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज आदि बाह्याडम्बरों आदि का विरोध भी इन्होंने किया। संत कवियों ने निर्भयता से तत्कालीन समाज को सही मार्ग दिखाने का प्रयास किया तथा तत्कालीन धर्म और संप्रदायों में निहित पाखंडपूर्ण मान्यताओं का विरोध किया। परिणामत: संत कवियों को हिंदू तथा मुसलमान दोनों ओर से प्रताड़ना झेलनी पड़ी। दूसरी ओर गुरु नानक पहले ऐसे संत थे जिन्होंने स्त्रियों के सम्मान की चर्चा की तथा उन्हें संत जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं माना। ❑

मध्यकालीन भारतीय सन्त एवं सामाजिक समरसता

डॉ. मोहनलाल साहू
विभागाध्यक्ष से.नि. -इतिहास,
राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, कोटा (राज.)

हमारा देश प्रारम्भ से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा वाला देश रहा है। भारत ने सदैव 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामिया' का सन्देश दिया है। संज्ञान सूक्त में भी यह सन्देश दिया गया है जिस प्रकार देवता बिना किसी प्रतिस्पर्धा के एक ही हवि से अपना अपना भोग्याशं का प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही हमें एक साथ चलें, एक साथ बोलें तथा एक दूसरे के मन को जाने। संगच्छध्वं संवदध्वं वो मनांसि जानताम् देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में सदैव बिना किसी विभेद के सर्वजनहित की बात की है। रामायण में 'परोपकार पुण्याप पापाम पर पीडनम् का उल्लेख है। मध्यकाल में मुसलमानों के आगमन के बाद हमारे देश में जाति व्यवस्था में कठोरता आई और यह व्यवस्था जन्म आधारित हो गई। प्रारम्भ में यह व्यवस्था कर्म आधारित थी। जैसा कि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवतगीता में कहते हैं- 'चातुवर्णय गया सष्टं गुणकर्मविभागशः' सामाजिक विभेद एवं अस्पृश्यता जैसी बुराइयाँ सामाजिक चुनौती के रूप में उभरकर आई। इस समय भक्ति आन्दोलन परम्परा के सन्तों ने इस बुराइयों को समाज में मिटाने का जिम्मा उठाया और उन्होंने मानववाद का समर्थन करते हुये एवं कई उदाहरण और आदर्श प्रस्तुत करते हुये समाज को सामाजिक समरसता के लिए प्रेरित किया। अपनी भक्ति मूलक रचनाओं के माध्यम समाज को जागृत किया। भक्ति आन्दोलन में सन्तों के रामानन्द, कबीर, दादू, मीरा, तुलसीदास, नामदेव, ज्ञानदेव एवं गुरुनानक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिन्होंने समाज में आई दरारों को व ऊँच-नीच की भावना को मिटाकर सामाजिक समरसता का प्रयास किया। लोगों ने इन सन्तों का अनुसरण भी किया। इन सन्तों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इनमें से अधिकांश सन्त निम्न वर्ग से ही सम्बन्धित थे और समाज ने इनका अनुसरण किया। सामाजिक समरसता व मानववाद का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

समरसता विभेद रहित मानव एकात्मकता समरसता का पर्याय है। सामाजिक समरसता का तात्पर्य उस आदर्श स्थिति से है जिसमें समस्त सामाजिक बन्धुओं में जाति, धर्म, लिंग, भाषा, प्रान्त, बोली, उँच नीच, छुआ छूत आदि के विभेद के बिना किसी परिस्थितियों के समाज के प्रत्येक बन्धु के मध्य एकरूपता, एक रसता हो।

अथर्ववेद में भी सामाजिक समरसता व सद्भाव को स्वीकार करने का सन्देश है। कुए, तालाब, बावड़ियाँ सबके लिए हैं। आप अपना भोजन मिलकर बनाएँ, इकट्ठे होर खाएँ तथा सब रथ के पहिये के आरे के समान संगठित होकर रहें। यही हमारी

संस्कृति है। यहाँ भूमि को माँ के रूप में माना गया है –

'माता भूमि:पुत्रोऽहं पृथिव्या।' अर्थात् मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ और भूमि मेरी माता है। मेरा जीवन मातृभूमि सेवा में अर्पित रहेगा और लोक कल्याण की सेवा के लिए समर्पित रहेगा, ऐसी प्रतिज्ञा से संपन्न स्नातक राष्ट्र का सुयोग्य नागरिक एवं गौरव होता है।

लेकिन समाज के कुछ ठेकेदारों ने अपने स्वार्थों की पर्ति के उद्देश्य से भरतीय समाज एवं धर्म में अनेक बुराइयों का समावेश कराया और लोगों को गलत सन्देश दिया। सामाजिक विभेद, अस्पश्यता, दलित व अभिजात की कल्पना आदि ऐसी ही बुराईयाँ है। सामाजिक विभेद की प्रकृति अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के विरुद्ध है, यह आर्दश समाज के विरुद्ध षड़यन्त्र है या विकृत मानसिकता का परिणाम है।

अस्पृश्यता या समाज में विभेद उत्पन्न करके कुछ लोगों ने सदैव हिन्दू समाज को तोड़ने का प्रयास किया है। द्वितीय सर संघचालक परमपूजनीय गुरु जी श्री गोलवलकर जी ने अस्पृश्यता को सभ्य समाज के लिए अत्यधिक घातक बताते हुये कहा था, कि 'अस्पृश्यता हिन्दू समाज की सबसे हानिकारक व्याधि है, इसने सामाजिक प्रगति, सन्तुलन एवं सद्भाव को गहरी चोट पहुँचाने का प्रयास किया है। यह एक विकार या दोषमात्र न होकर सभ्य समाज के लिए काजल से भी अधिक काला कलंक है, जो हिन्द समाज के मूल चरित्र को नष्ट करता है। भ्रातृत्व उदारमन और समानता का भाव प्रत्येक हिन्दू की मौलिक प्रकृति और लक्ष्य दोनों होता है। अस्पृश्यता के प्रवेश ने स्वस्थ सामाजिक पर्यावरण को ही नष्ट करने का प्रयास किया है। इसे ठीक करने के लिये बहुआयामी प्रयासों की जरूरत है। आम लोगो के मन से छूआछूत भेदभाव की भवना मिटाने के लिये यह आवश्यक है कि सन्त समाज इस हेतु आव्हान करें।'

जब भी भारतीय समाज व धर्म में इन बुराइयों ने प्रवेश किया है, इन बुराइयों को दूर करने में हमारे महापुरुषों, सन्तों एवं समाज व धर्म सुधारकों का विशिष्ट योगदान रहा है। प्राचीनकाल हो, मध्यकाल हो या 19वीं, 20वीं, शताब्दी का काल, इन महापुरुषों ने इन बुराइयों को दूर करने के लिए आन्दोलन चलाया ताकि समाज में सामाजिक समरसता स्थापित हो सकें। वर्तमान में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एवं विभिन्न संगठनों द्वारा भारतीय समाज में सामाजिक समरसता व्याप्त हो, इस हेतु व्यापक प्रयास किये जा रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में सदैव बिना किसी विभेद के सर्वजनहित की बात की है। महर्षि वेदव्यास भी महाभारत में परोपकार को ही जीवन का सार कहते हैं–

अष्टादश पुराणेसु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

मध्यकाल में मुसलमानों के आगमन के बाद हमारे देश में जाति व्यवस्था में कठोरता आई और यह व्यवस्था जन्म आधारित हो गई। प्रारम्भ में यह व्यवस्था कर्म आधारित थी। जैसा कि स्वयं भगवान श्री कृष्ण श्रीमद्भागवतगीता में कहते हैं – चातुवर्ण्य गया सृष्टं गुणकर्मविभागश:। समाजिक विभेद एवं अस्पृश्यता जैसी बुराइयाँ समाजिक चुनौती के रूप में उभरकर आई। इस समय भक्ति आन्दोलन परम्परा के सन्तों ने इस बुराइयों को समाज से मिटाने का जिम्मा उठाया और उन्होने मानवतावाद का समर्थन करते हुये एवं कई उदाहरण और आदर्श प्रस्तुत करते हुये समाज को समाजिक समरसता के लिये प्रेरित किया। अपनी भक्ति मूल रचनाओं के माध्यम से समाज को जागृत किया। भक्ति आन्दोलन के सन्तों में रामानन्द, कबीर, दादू, मीरा, तुलसीदास, नामदेव, ज्ञानदेव एवं गुरुनानक का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने समाज में आई दरारों को व ऊँच–नीच की भावना को मिटाकर सामाजिक समरसता का प्रयास किया। लोगों ने इन सन्तों का अनुसरण भी किया। इन सन्तों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इनमें से अधिकांश सन्त निम्न वर्ग से ही सम्बन्धित थे और समाज ने इनका अनुसरण किया। सामाजिक समरसता व मानववाद का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

कबीर व नानक की भांति चैतन्य महाप्रभु का भी मुख्य उद्देश्य सामाजिक असमानता को दूर कर पद दलित वर्ग को ऊँचा उठाना था। वे शूद्रों को समानता का अधिकार देकर उन्हें इस्लाम स्वीकार करने से रोकना चाहते थे। डी.सी. सेन के अनुसार सभ्यता के इस अंधकार युग में ऐसे समाज सुधारक भी आवश्यक थे। जो समाज को यह बता सकें कि कर्म व ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सरल है और जो भ्रातृत्व भावना के आधर पर सबको सामाजिक एकता के सूत्र में बांध सकें। भाग्यवश चैतन्य महाप्रभु में ये सभी गुण विद्यमान थे। वे सामाजिक कुरीतियों का दूर कर ब्राह्मणों के प्रभुत्व को समाप्त करने के पक्ष में थे।

जिस समय सामाजिक विषमताओं से तंग आकर निम्न जाति समाज के लोगों जाति परिवर्तन के लिये उतारू थे और आर्थिक संकट से सामान्य जनता की रीढ़ ही टूट गई थी। ऐसे में सन्त कबीर ने अपनी वाणी से बिना किसी भेदभाव के सामाजिक एकता व समरसता का सन्देश दिया। बाबा साहब अम्बेडकर ने भी कबीर को सामाजिक समरसता का सच्चा प्रतिनिधि बताया है।

कबीर से कहते हैं – एकै पवन, एक ही पानी एक ही जोति संसार।

एक ही खाक गढे सब भांडे एक ही सिरचन हारा।

डॉ. विजयेन्द्र लिखते हैं – 'कबीर ने

अपने जीवन में दूसरों के लिए कष्ट को स्वीकार किया। वे अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए रोते विलाप विलाप करते थे। कबीर ने तटस्थ होकर सामाजिक विसमताओं को महसूस किया था, इसीलिए अपने प्रबल व्यक्तित्व से इन्हें मिटाकर एकात्व एवं समरसता स्थापित करने का निश्चय किया। कबीर मानवतावादी विचारधारा के समर्थक थे। भारतीय मानव समाज की जो कल्पना उन्होंने की थी, वह इतनी मजबूत निकली की आज भी हमारे साथ हैं और हम उस कल्पना को साकार रूप दने के लिए प्रयासरत हैं।

कबीर ने समाज को बताया कि जन्म से मनुष्य समान है –

एक बूंद एकै मलमूतर, एक चाम एक गूदा। एक ज्योति से सब उत्पन्ना को बामन को सूदा इसी प्रकार जाति-पाति का खण्डन करते हुये कहा – जाति न पूछा साधु की पूछ लिजिये ज्ञान।

मोल करो तलवार को चढी रहन दो म्यान। इसी प्रकार रामानन्द ने जाति विहीन समाज सुधार आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया। रामानन्द संस्कृत के पण्डित थे एवं ब्राह्मण कुल में उत्पन्न थे, लेकिन उन्होंने ब्राह्मण से चाण्डाल तक सभी को समरूपता से समनाम का उपदेश दिये। सभी जातियों के लोगों को उन्होंने अपना शिष्य बनाकर उन्होंने एक समरस समाज के निर्माण का सन्देश दिया। भ्रातृत्ववाद का परिचय दिया। रामानन्द के शिष्यों में रैदास (चमार समाज से), कबीर (जलाहा), धन्ना (जाट-किसान), सेना भगत (नाई समाज से), पीपा (राजपूत), भवानन्द, महानन्द, परमानन्द प्रमुख थे।

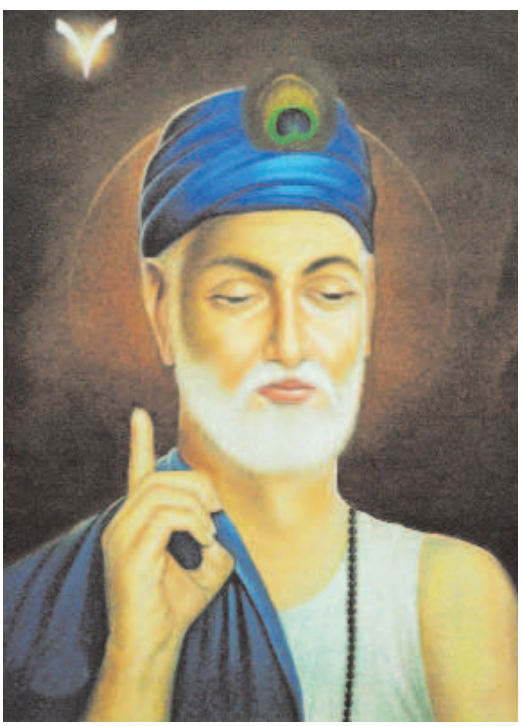

रामानन्द हरिहरदास के अनुसार – 'रामानन्द ने देखा कि भगवान के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया, उसके लिये वर्णाश्रम व जाति का बंधन व्यर्थ है, इसलिए भगवद्भक्त को खानपान के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियों के नाम पर गौत्र, परिवार बन सकते है तो ऋषियों के भी पूजित परमेषवर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार सभी भाई-भाई है। सभी एक जाति के हैं श्रेष्ठता भक्ति से होती है जाति से नहीं।

गुरुनानक भी क्रान्तिदर्शी, प्रचण्ड रूढ़िवाद विरोधी एवं युग पुरुष थे, जिन्होंने साम्प्रदायिक भेदवाभ मिटाकर एक साथ चलने का सन्देश दिया। सामंजस्य का मार्ग दिखाया। इसके साथ ही सामाजिक दृष्टि से उनका प्रमुख कार्य दलित वर्ग को हिन्दू समाज में समानता का स्थान देकर उन्हें इस्लाम की तरह जाने से रोकना था।

कबीर की तरह ही गुरु नानक ने पाखण्ड, रूढ़ियों एवं जाति प्रथा का विरोध किया। उन्होंने कहा था 'जाणहु ज्योति न पूछहु जाति आगे जातिन है प्रत्येक मनुष्य में चारों वर्गों का समन्वित रूप होना चाहिए। कोई जन्म से ब्राह्मण नहीं बल्कि कर्म से ब्राह्मण होता है। जाति गरबु न करी अहु माई, ब्रहनु बिन्दे सो ब्राह्मण होई। यात्रा के समय निम्न वर्ग के साथ रहने में उन्हें आनन्द मिलता था। जाति व्यवस्था समाप्त करने के लिए ही उन्होंने सभी शिष्यों के लिए एक भोजनालय की व्यवस्था की जिसे गुरु का लंगर कहा जाता है।' परम ब्रह्म प्रभु एक है दुजा नहीं कोई

गुरुनानक का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण मानव समाज का उत्थान था। इसलिए बिना किसी भेदभाव के मानवमात्र के कल्याण के सेवा कार्यों पर विशेष जितना बल दिया उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। एक समाज सुधारक के रूप में उन्होंने जाति प्रथा का खण्डन किया।

कबीर व नानक की भांति चैतन्य महाप्रभु का भी मुख्य उद्देश्य सामाजिक असमानता को दूर कर पद दलित वर्ग को ऊँचा उठाना था। वे शूद्रों को समानता का अधिकार देकर उन्हें इस्लाम स्वीकार करने से रोकना चाहते थे। डी.सी. सेन के अनुसार सभ्यता के इस अंधकार युग में ऐसे समाज सुधारक भी आवश्यक थे। जो समाज को यह बता सकें कि कर्म व ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सरल है और जो भ्रातृत्व भावना के आधर पर सबको सामाजिक एकता के सूत्र में बांध सकें। भाग्यवश चैतन्य महाप्रभु में ये सभी गुण विद्यमान थे। वे सामाजिक कुरीतियों का दूर कर ब्राह्मणों के प्रभुत्व को समाप्त करने के पक्ष में थे। ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करना चाहते थे। ऊँच-नीच की भावना को समाप्त कर समाज में सामंजस्य की स्थापना करना चाहते थे। उनके शिष्यों में भी सभी जाति के लोग थे। उनके संकीर्तन में भी जाति के लोग भाग लेते थे। दलित वर्ग से मिलकर आनन्द का अनुभव करते

थे। इस वर्ग के लोगों से गले मिलकर उनकी दुर्दशा पर बांसु बहाते थे। वे मानवतावादी थे दलित सेवा ही उनका मुख्य लक्ष्य था। श्रीमती बेवरिज ने चैतन्य का मूल्यांकन करते हुये लिखा हैं- चैतन्य मार्टिन लूथर की भंति धर्म में मूल परिवर्तन नहीं, बल्कि जॉर्ज नॉक्स की तरह धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं व कुरीतियों को समाप्त करना चाहते थे। गोस्वामी तुलसीदास का भी समाज सुधारक के रूप में प्रमुख उद्देश्य था- दलित वर्ग को समानता का अधिकार देकर उन्हें इस्लाम स्वीकार करने से रोकना था। तुलसी के आराध्य श्रीराम ने समान भाव से ब्राह्मण क्षत्रिय वैष्य और शूद्रों को समान स्तर प्रदन किया। उनकी दृष्टि में महर्षि वशिष्ट, विश्वामित्र, परसुराम, अत्रि, निसाद, सेवरी, राक्षस विभीषण, जामवन्त व सुग्रीव में कोई अन्तर नहीं था। 'मुशंण्डि शूद्र थे' और शिव मंदिरों में आराधना करते थे। श्रीराम को भी सबरी के झूठे बेर खाने में संकोच नहीं हुआ।

इसके अलावा सन्त दादूदयाल मलूकदास रैदास, रज्जब, बूलासाहब एवं सन्त नामदेव आदि ने भी सामाजिक समरसता पर विशेष जोर दिया। यह तो स्पष्ट है कि इन सन्तों क्षरा समाजिक समानता का प्रयास नहीं किया जाता तो हमारे देश का अधिसंख्यक हिन्दू समाज की ओर आकर्षित होता, इस्लाम स्वीकार कर लेता। इन संतों ने हिन्दुत्व की रक्षा का बीड़ा अठाया। सभी सन्तों के सामाजिक उद्देश्यों की समानता स्पष्ट थी। सभी सामाजिक विषमाताओं के प्रति जागरूक थे।

राजस्थान में इस समय लोक देवताओं संतों ने सामाजिक समरसता का संदेश दिया। मीराबाई का संबंध रा परिवार से होते हुए भी उसने सम्पूर्ण सुविधाओं का त्याग कर संन्यासिनी होने का निश्चय किया। कृष्ण भक्ति को ऊंचाईयों तक पहुँचाया। दलित वर्ग के मध्य रहकर उन्होंने भगवान की साधना की। मीराबाई

सन्त रैदसा की शिष्या थी। यहाँ के लोकदेवता रामदेवजी, पाबूजी, हरभूजी, गोगाजी, तेजाजी, सभी सामान्य वर्ग से थे। इन्होंने दलित वर्ग में नई स्फूर्ति एवं भक्ति का संचार किया। इन लोक देवताओं के अनयायियों में केवल दलित वर्ग के लोग ही नहीं हैं अपितु उच्च वर्ग के भी बड़ी संख्या में अनयायी हैं। ईश्वर के समक्ष बिना किसी जाति भेद के समानरूप से साधना का सन्देश दिया। इस युग की एक ओर विशेषता रही कि इन लोकदेवताओं ने गोरक्षा के लिये अपना बलिदान करके सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया।

हम कह सकते हैं कि प्राचीनकाल में वर्तमान काल तक हमारे यहाँ सामाजिक समरसता की कभी भी नहीं रही। कुछ लोगों ने अपने स्वार्थों के लिए समय-समय पर इसकी दिशा बदल दी। लेकिन जब भी हमारे यहा सामाजिक विषमता आई हमारे महापुरुषों, सन्तों एवं लोक देवताओं ने इन बुराइयों को दर करने के लिए योजनाबद्ध प्रयास किये। समाज सुधार आन्दोलन करके समाज को नई दिशा दी। वर्तमान में भी

इस हेतु विशेष प्रयास किये जा रहे हैं और इसमें सफलता भी मिल रही है। बाबा साहब अम्बेडकर ने हिन्दू समाज के अस्पृश्यता सम्बन्धी नासूर का इलाज करने का बीड़ा उठाया। अम्बेड़कर का संघर्ष दलित बनाम ब्राह्मण का संघर्ष नहीं था, अपितु उन्होंने जाति भेद समर्थक ब्राह्मणवाद का विरोध किया। ❑

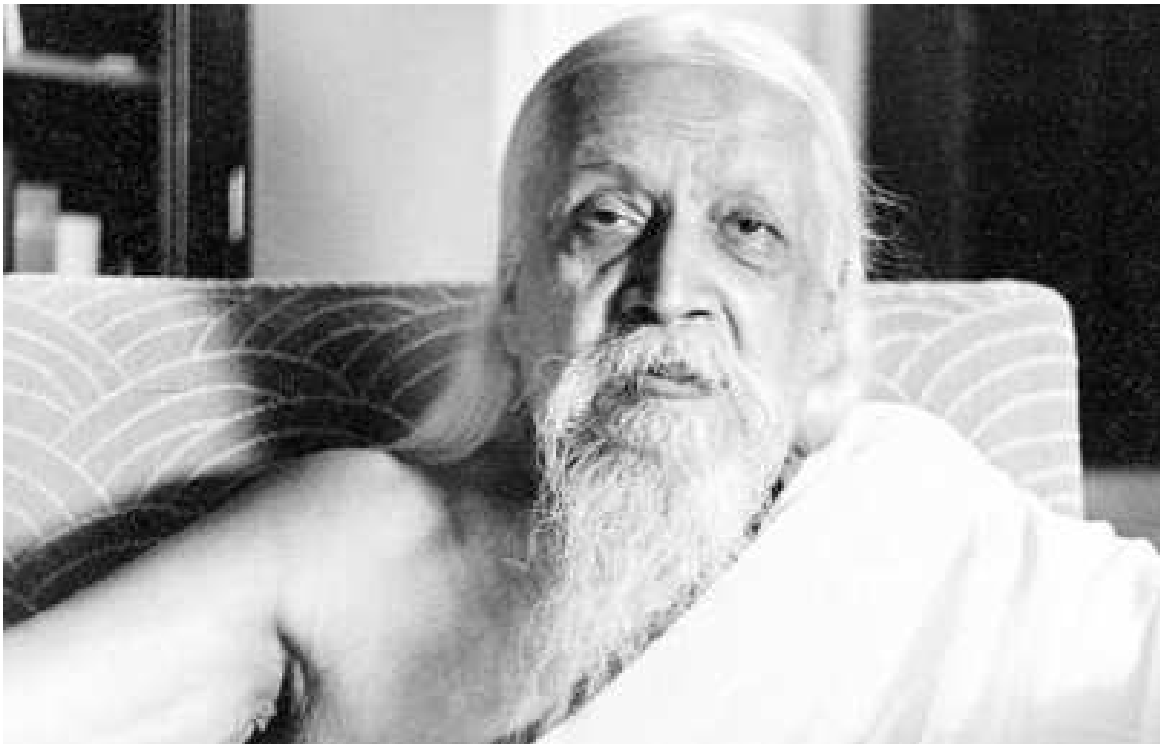

राष्ट्र-चेतना की शिक्षा के कर्णधार : सन्त श्री अरविन्द

डॉ. पूर्णचन्द्र उपाध्याय

सह-आचार्य एवं
संस्कृत विभागाध्यक्ष,
राजकीय महाविद्यालय
बून्दी (राज.)

आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक दु:खत्रितय से सर्वथा आप्लावित परिवर्तनशील इस संसार में जब जब मानवीय जीवन मूल्य बोधात्मक धर्म का अवपतन के साथ तद्विपरीत अधर्म का अभ्युत्थान हुआ है तब तब जगत्कर्ता परमपिता ने लोकचैतन्योद्बोधन के साथ तद्वैषम्य के अपसारण निमित्त एवं समत्व की सिद्धि के लिए प्रत्येक युग में अंशावतार या गुणावतार के रूप में धरा पर स्वयं को आविर्भूत किया है। इस तथ्य का प्रमाण हमें अंशावतारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निस्सृत शाश्वतवाणी से प्राप्त होता है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।
(श्रीमद्भगवद्गीता 4.7-8)

इस तथ्य की अन्वर्थता में ही युगपुरुष सन्त शिरोमणि श्री अरविन्द का धरावतरण सम्पूर्ण मानव समाज के लिए मङ्गलाबह एवं राष्ट्र कल्याणकारी कालजयी योगदान का आविर्भाव स्वत: सिद्ध है। स्वामी श्री अरविन्दजी के जीवन दर्शन का विश्लेषण करने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि वे एक युगपुरुष एवं महनीय सन्त थे।

सन्त की परिभाषा – संस्कृत के 'सन्' धातु से सन्त शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है – 'सनोति सनुते वा इति सन्त:' अर्थात् जो सभी प्राणियों से निश्छलता पूर्वक प्रेम करता है और जो सभी का आदर करता है एवं सभी के प्रति संवेदना के साथ समदृष्टि रखते हुये नि:स्वार्थभाव से जगत्कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है वह सन्त कहलाता है। साधु और सन्त में भी आकाश व पाताल में जैसा भेद है। साधु वह कहलाता है जो अपनी साधना या कठोर तपस्या से स्वयं ईश्वर से साक्षात्कार करने में तो समर्थ हो जाता है परन्तु दूसरे को ईश्वर के सामीप्य कराने में असमर्थ रहता है। किन्तु सन्त अपने निष्काम कर्मोपसना की चरम साधना के बल पर उभयथा समर्थवान् है। अर्थात् स्वयं परम पिता से तदाकारकारित चित्तवृत्ति संपन्न ('अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव वाक्य की अन्वर्थता में) होने के कारण परम पिता के प्रतिनिधित्व का अधिकारी बन जाता है। परिणाम स्वरूप ईश्वराभिन्नस्वरूपक वह प्राणीमात्र के लिए उनके सान्निध्य का साक्षात् माध्यम बन जाता है। वस्तुत: सन्त अध्यात्मजगत्

के आकाश में मानविकता का सप्तरंगी इन्द्रधनुष है। जहाँ सौहार्द, आत्मीयता एवं समदर्शिता की अथाह निधि की निर्झरिणी सतत प्रवहमान है। सनातन संस्कृति एवं राष्ट्रीय अस्मिता के संरक्षण के प्रति जहाँ स्वार्थ समर्पण की अपूर्व ललक मानव जाति एवं सभ्यता के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। ऐसे उदारचेता महानुभाव सन्तों के आविर्भाव के लिए विश्वगुरु हमारा भारतवर्ष सर्वथा चातकायमान रहा है। इस सन्दर्भ में इतिहास साक्षी है कि स्वाति नक्षत्रयुत दुर्लभ बर्षाजल के बिन्दु की तरह समय समय पर सन्तों का धरावतरण भारत भूमि के सन्ताप दूर करने में समर्थवान् हुआ है।

इसी कड़ी में ही सन्त शिरोमणि युगपुरुष श्री अरविन्द का आविर्भाव यहाँ अत्यन्त प्रासङ्गिक है। श्री कोङ्गर भास्कर राय द्वारा तेलुगु भाषा में विरचित एवं डॉ. सावित्री प्रताप द्वारा संस्कृत में अनूदित ('युगपुरुषः' श्रीअरविन्दस्य साधनचरितम्) दृश्यकाव्य में सन्त श्री अरविन्द का महनीय जीवनवृत्त, उनके आविर्भाव में निहित भारतीय संस्कृति का संरक्षणात्मक विशिष्ट उद्देश्य, राष्ट्रोत्थान की अदम्य चेष्टा, स्वदेश-स्वातंत्र्य की प्राप्ति निमित्त नैकविध गूढ़ प्रयत्न इत्यादि राष्ट्रीय चेतना संवलित लोक चैतन्या व बोधक तत्त्वजात ही हमारे इस आलेख का मुख्य प्रतिपाद्य है। श्री अरविन्द का जनिवृत्त एवं उनका परिवार युगपुरुष श्री अरविन्द का धरावतरण अपने पिता-माता के तृतीय सन्तति के रूप में 15-8-1872 ईस्वी को ब्रह्म मुहूर्त में भारत भूमि की कोलकता नगरी में हुआ था। इनके पिताजी सुप्रसिद्ध शल्य चिकित्सक डॉ. कृष्णधन घोष एवं माता श्रीमती स्नेहमयी स्वर्णलता देवी हैं। परिवार के रूप में इनके माता-पिता के अतिरिक्त विनयभूषण, मनोमोहन व बरीन नाम से तीन भाई एवं सरोजिनी नाम की एक बहन तथा तपस्विनी मृणलिनी उनकी धर्मपत्नी इस प्रकार कुल 7 सदस्य थे। (युगपुरुषः पृ.सं. 10) चार सन्ततियों में से श्री अरविन्द ही अपने पिता जी के अत्यन्त स्नेहास्पद थे। इस तथ्य का प्रमाण हमें उनके अग्रज विनयभूषण के कथन से प्राप्त होता है। विनयभूषण की उक्ति इस प्रकार है - 'यतः अस्माकं सर्वेषाम् अपेक्षया अरविन्दे पितुः विशेषप्रीतिः। ततः अरविन्दः तेन अधिकं स्मर्यते।' (युगपुरुषः पृ.सं. 12) धरावतरण-प्रयोजन - 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इस सूक्ति के अनुसरण में युगपुरुष श्री अरविन्द का धरती पर अवतरण करने का क्या प्रयोजन है? इस जिज्ञासा का उपशम करते हुये साधनचरितम नाटक के प्रारम्भ में ही नाटककार ने मायाजाल में निगडित सांसारिक जनों के अज्ञानान्धकार दूर करने के साथ ज्ञानदीप प्रज्वलन द्वारा प्राणीमात्र का दुःख निवारणार्थ श्री अरविन्द के पूर्ववर्ती बुद्ध, आदिशङ्कराचार्य, विवेकानन्द प्रभृति युगपरिवर्तक सन्तों के जीवन दर्शनात्मक घोष वाक्यों का प्रतिपादन कर परम कारुणिक श्री अरविन्द के राष्ट्रीय लोकचैतन्या व बोधक प्रयोजन को सुदृढ़ता प्रदान की है। नाट्योक्ति इस प्रकार है- 'अनादिकालात् मानवः अज्ञानेन, अशान्त्या, बाधाभिः, मृत्युना च दुःखी सन् जीवति। अत्र तरतमभेदाः अपि न सन्ति । राजानः उत रङ्कवः, पण्डिताः उत पामराः, स्त्रियः उत पुरुषाः एतैः खेदैः पीडाम् अनुभवन्तः एव सन्ति। ईदृश्याः अशान्त्याः दूरं गन्तुं मानवः युगात् यतमानः एव अस्ति । अनेके महाभागाः उपायान् दर्शयन्तः एव आसन्।' (युगपुरुषः पृ. सं. 7) इस धरती पर सन्त शिरोमणि श्री अरविन्द के पदार्पण का प्रयोजन निरूपण करते हुये काव्यकार ने अनेकत्र इस तथ्य का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में निम्नाकित उद्धरण सुतरां विवेचनीय है - 'नागरकः किन्तु श्रीमन्! भौतिक-आध्यात्मिक जीवनयोर्मध्ये संजातं दूरं प्रपूरयितुमेव एतद् द्वयम् अनुसन्धातुम् एव समत्वं साधयितुमेव आगतः महामनीषी योगेश्वरः श्री अरविन्दः। तस्य जीवनवृत्तं ज्ञातुं वयम् उद्युक्ताः इदानीम्।' (युगपुरुषः पृ.सं. 10) इस उद्धरण में निहित उपनिषद्गत जीवन दर्शन यह है कि, पुरुषार्थ-चतुष्टय के अन्तर्गत मानव जीवन के लक्ष्यभूत अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि न केवल भौतिकज्ञान और न केवल अध्यात्मज्ञान से होती है, अपितु दोनों के यथार्थ ज्ञानसाहित्य से ही उसकी सिद्धि सम्भव है। इस सन्दर्भ में ईशावास्योपनिषद् का निम्नाङ्कित मन्त्र नितान्त प्रासङ्गिक है -

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।

(ईशा. म.सं.11)

युगपुरुष श्री अरविन्द की राष्ट्र-चेतना सर्वथा अनन्य एवं अत्यन्त

'युगपुरुषः (श्री अरविन्दस्य साधनचरितम्)' इस दृश्य काव्य में सन्त शिरोमणि युगपुरुष श्री अरविन्द का चरित्र जिस प्रकार चित्रित किया गया है उस से उनकी लोकचेतनात्मक राष्ट्र-चेतना सर्वथा अनुपम एवं अद्वितीय प्रतीत होती है। उन्होंने राष्ट्र के भावी कर्णधार युवाओं को राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा के लिए जिस प्रकार शिक्षा प्रदान की है वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। श्री अरविन्दने अपने राष्ट्र भारतवर्ष के स्वातंत्र्य के लिए अपने पिताजी की इच्छानुरूप प्रशासनिक अधिकारित्व लक्ष्य भूत स्वार्थ का परित्याग करने के साथ अनेकवार काराबद्धता को स्वीकार किया है।

गूढान्वेषणयुक्त है। युगपुरुष श्री अरविन्दने वैदिशिक अंगरेजों के अधीनस्थ अपनी मातृभूमि भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य के लिए गूढरूप से गवेषणात्मक अध्ययन एवं बहुविध उपायों को अपना कर जो प्रयत्न किया है वस्तुतः वह अत्यन्त प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है। इस तथ्य की यथार्थता नाटक में चित्रित पात्रविशेष विनय एवं मनमोहन के निम्नाकित संभाषणांश विशेष से सिद्ध होती है - 'विनयः - भवान् न जानाति किम् एषु दिनेषु अरविन्दः भारतस्य विषये बहु अध्ययनं कुर्वन्नस्ति। भारतः स्वतन्त्रः भवेदिति। अत्र डैर्गअण्ड् लोटस् सङ्घः कश्चिद् गुप्तं कार्य करोति स्म। इङ्गलेण्डागताः भारतीयविद्यार्थिनः एतं स्थापितवन्तः। तत्र अरविन्दोऽपि गमनागमनं करोति स्म .....अस्तु सः सङ्घस्य सम्यगेव कार्य करोतीति मन्ये। भ्रातृषु अपि रहसि तस्य कार्यकलापः खलु।' (युगपुरुषः पृ. सं. 11) श्री अरविन्द की स्वदेशप्रीति तो सर्वथा अनन्य एवं अनुपम है। उच्चशिक्षित होकर भी मेधावी श्री अरविन्द ने अपने पिताजी की प्रशासनिकाधिकारित्व मनोकामना को अस्वीकार करते हुये दिन-रात, स्वप्न-जागरण को एक कर स्वदेश के स्वातंत्र्य निमित्त काय, मनो एवं वाक्य से स्वयं को समर्पित कर दिया था। यहाँ उनके सहोदर मनमोहन की उक्ति नितान्त प्रासङ्गिक है - 'अस्तु। पिता तु अरविन्दः ऐ.सि.एस. पठतु इति अपेक्षते। अरविन्दस्य तु सा इच्छा नास्ति एव। सर्वदा तस्य स्वदेशः। स्वराज्यं। स्वातंत्र्यम् इत्येव चिन्तनम्। अथवा कविताः कुर्वन् किमपि चिन्तयन् स्वप्नलोकेषु विहरन् भवति । (युगपुरुषः पृ.सं. 12) इस विषय में श्री अरविन्द का संवाद भी सुतरां विमर्शनीय है। जैसाकि - 'पितुः इच्छापूरणस्य अपेक्षया देशाय किमपि कर्तव्यम्। 30कोटि भारतीयानाम् अश्रुणि मार्जनीयानि। (युगपुरुषः पृ. सं. 13) यहाँ सन्त श्री अरविन्द की उक्ति में उनकी अपूर्व मानवीयसंवेदना अभिव्यक्त होती है।

युगपुरुष श्री अरविन्द के लिए पितृधर्म की अपेक्षा राष्ट्रधर्म महत्तर है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भारतीयसंस्कृति की इस उदात्तभावना को आत्मसात् कर उन्होंने देशवासियों के कल्याणार्थ पारिवारिक प्रयोजन अर्थात् स्वार्थविशेष को परित्याग किया है।

श्री अरविन्द स्वार्जित ज्ञान, धन-सम्पत्ति इत्यादि समस्त वस्तुजात को ईश्वरप्रदत्त समझकर उन सभी वस्तुओं का परमात्मा अर्थात् जनताजनार्दन के समक्ष समर्पण करने में श्रेयस्कर समझते थे। उच्चकोटि के इस महनीय जीवन दर्शन को उन्होंने अपनी अर्धाङ्गिनी मृणालिनी के अन्तःकरण में राष्ट्रभावना जागृत करने के उद्देश्य से पत्र द्वारा प्रेषित कर समस्त युवा पीढी को एक कालजयी संदेश दिया है कि समर्पण की भावना ही मानव जीवन मूल्यों का परिचायक है और सच्ची राष्ट्रभक्ति या स्वदेशप्रीति है। नाट्यांश इस प्रकार है -

श्री अरविन्द के हृदय में पीडित एवं बुभूक्षित जनों के प्रति यो मानवीयसंवेदना है, वस्तुतः वह अत्यन्त मार्मिक व हृदयस्पर्शी। अभावग्रस्त गरीबों के लिए सर्वस्व-समर्पण को वे स्वयं के धर्म एवं मानवजीवन की सफलता मानते हैं। राष्ट्र या मातृभूमि के प्रति युगपुरुष की अनुभूति सजीव है। मातृभूमि उनके लिए साक्षात् मातृदेवता है। श्री अरविन्द स्वयं ही अपने इस अन्तर्भाव को व्यक्त करते हुये कहते हैं - 'राष्ट्रम् इत्युक्ते कश्चन निर्जीवः जडभागः इति केचन चिन्तयन्ति।

'भगवता दत्ताः गुणाः। सामर्थ्यम्। उन्नतविद्या। ज्ञानं। धनं। सर्व तस्यैव सम्पत्तिः। तत्र किंचित् स्वकुटुम्बपोषणाय अपेक्षितम् अनिवार्यतया उपयोक्तव्यं तावदेव व्ययीकर्तुम् अस्माकमधिकारः। प्राप्तं सर्व भगवते एव निवेदनीयम्। सुखभोगाभ्यां तस्य व्ययं करोमि चेत् अहं चोरः भवामि। अस्माकं शास्त्रेषु ईश्वरात् स्वीकृतं धनं तस्मै यः न ददाति सः चोरः इति कथितम्। अस्मदीयानां कृते आयस्य व्ययस्य च गणनं न युक्तम्। मृणालिनि! अस्मिन् क्लेशकाले राष्ट्रमिदम् अस्माकं साहाय्यमपेक्षते। इदानीं 33 कोटिजनाः सहोदराः सहोदर्यश्च सन्ति। तेषु अत्यधिकाः अत्र राष्ट्रे बुभुक्षया म्रियमाणा इव सन्ति। इतोऽपि अन्ये केचन क्लेशैः पीड्यमानाः अत्यन्तं खिन्नाः दिनानि यापयन्तः सन्ति। (युगपुरुषः पृ. सं. 19-20)

इस वाक्यांश में गागर में सागर जैसा उपनिषद्गत अनन्त जीवनदर्शन सन्निहित है। ईशावास्योपनिषद् में प्रतिपादित दर्शन यहाँ प्रतिफलित होता है कि ईश्वर की सत्ता से ही संपूर्ण चराचर जगत् आवृत्त है और उसे उपभोग करने का अधिकार ईश्वर का ही है। हम तो केवल निमित्तमात्र बनकर उसके साक्षीभूत हैं। उसके उपभोग में हमारा किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं है। इसलिए समर्पण की भावना से ही हमें जीवनयापन करना चाहिये। ईशावास्योपनिषद् का निम्नाङ्कित मन्त्र विचारणीय है -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।
(ईशा. म.सं.1)

सन्त शिरोमणि श्री अरविन्द का उदात्त चिन्तन यह है कि, जो वस्तु

जो सभी प्राणियों से निश्छल पूर्वक प्रेम करता है और जो सभी का आदर करता है एवं सभी के प्रति संवेदना के साथ समदृष्टि रखते हुये निःस्वार्थभाव से जगत्कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है वह सन्त कहलाता है। वस्तुतः सन्त अध्यात्मजगत् के आकाश में मानविकता का सप्तरंगी इन्द्रधनुष है। जहाँ सौहार्द, आत्मीयता एवं समदर्शिता का अथाह निधि की निर्झरिणी सतत प्रबहमान है। सनातन संस्कृति एवं राष्ट्रीय अस्मिता के संरक्षण के प्रति जहाँ स्वार्थ समर्पण की अपूर्व ललक मानव जाति एवं सभ्यता के लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

जिसका है वह उसे समर्पित कर देना चाहिये। इसलिए 'त्वद्वस्तु तुभ्यं समर्पयामि' इस न्याय से सकलभूतात्मभूत परमात्मा को उनके द्वारा प्रदत्त समस्त सांसारिक वस्तु अवश्य समर्पणीय है। जिससे प्रत्येक मानव का कल्याण सिद्ध होता है। यही जीवनदर्शन श्रीमद्भगवद्गीता में भी निहित है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने ही कहा है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यतपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 9.27)

गीता प्रतिपादित उक्त विचार दर्शन का अनुकरण करते हुये श्री अरविन्द का शास्त्रानुमत अभिमत यह है कि यदि किसी व्यक्ति के द्वारा अर्जित किया गया धन ईश्वर यानी जनताजनार्दन को न देकर वैयक्तिक स्वार्थनिमित्त व्यय किया जाता है तो वह संसार में चोर के रूप में परिगणित होता है। यह तथ्य श्रीमद्भगवद्गीता में भी निहित है –

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दतानप्रदायैभ्यो यो भुङ् के स्तेन एव सः।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता 3.12-13) श्री अरविन्द के हृदय में पीडित एवं बुभूक्षित जनों के प्रति यो मानवीयसंवेदना है, वस्तुतः वह अत्यन्त मार्मिक व हृदयस्पर्शी। अभावग्रस्त गरीबों के लिए सर्वस्व-समर्पण को वे स्वयं के धर्म एवं मानवजीवन की सफलता मानते हैं। राष्ट्र या मातृभूमि के प्रति युगपुरुष की अनुभूति सजीव है। मातृभूमि उनके लिए साक्षात् मातृदेवता है। श्री अरविन्द स्वयं ही अपने इस अन्तर्भाव को व्यक्त करते हुये कहते हैं – 'राष्ट्रम् इत्युक्ते कश्चन निर्जीवः जडभागः इति केचन चिन्तयन्ति। क्षेत्राणि, पर्वताः, शिखराणि, नदाः, नद्यः, निर्वृक्षा भूमिः इत्यादिकमेव राष्ट्रम् इति तेषां भावना। राष्ट्रम् इति साक्षात् मातृदेवता। इति एताम् अहम् आराधयामि।' (युगपुरुषः पृ. सं. 21) श्री अरविन्द का स्वराज्य भावना जागरण अनुपम है। स्वातंत्र्यपूर्ववर्ती कुछ भारतीय नायक अंगरेजों के अधीनत्व को भारत के लिए गौरवास्पद समझते थे। परन्तु अरविन्द के लिए यह अत्यन्त अरुचिकर है। अतः स्वराज्यभावना के संवर्धन व जनजागरण निमित्त वे सर्वदा प्रयत्नशील थे। इस सम्बन्ध में नाट्यांश इस प्रकार है – 'जनाः जागरणीयाः। स्वराज्यभावना तेषु जागरणीया। यदा कदापि वा ब्रिटिश्पालकाः भारतात् निर्गच्छेयुः एव। इति तस्य सङ्कल्पः। राष्ट्रे युवकान् काश्चन सगृह्य स्वराज्यसाधनाय सिद्धाः करणीयाः। इति युवकान् प्राबोधयत् श्री अरविन्दः। (युगपुरुषः पृ. सं. 23) इतना ही नहीं,' प्रभंजना इतस्ततो विजृम्भिता भवन्तु ते.....(युगपुरुषः पृ. सं. 23) इत्यादि आह्वान गीतों के माध्यम से श्री अरविन्द ने राष्ट्रवासी युवकों के चेतस् में स्वराज्यप्रेम की भावना को जागृत किया है। स्वराज्य की प्राप्ति निमित्त उनके अन्तःकरण में सुदृढ विश्वास था। श्री अरविन्द के स्वराज्य भावनात्मक प्रयास से प्रेरित होकर अनेक देशप्रेमियों द्वारा जनजागरण के लिए असंख्य पत्रिकाओं एवं अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है।

निष्कर्ष – उपर्युक्त विवेचन से सुष्ठु प्रमाणित होता है कि 'युगपुरुषः (श्री अरविन्दस्य साधनचरितम्)' इस दृश्य काव्य में सन्त शिरोमणि युगपुरुष श्री अरविन्द का चरित्र जिस प्रकार चित्रित किया गया है उस से उनकी लोकचेतनात्मक राष्ट्र-चेतना सर्वथा अनुपम एवं अद्वितीय प्रतीत होती है। उन्होंने राष्ट्र के भावी कर्णधार युवाओं को राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा के लिए जिस प्रकार शिक्षा प्रदान की है वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। श्री अरविन्दने अपने राष्ट्र भारतवर्ष के स्वातंत्र्य के लिए अपने पिताजी की इच्छानुरूप प्रशासनिक आधिकारित्व लक्ष्य भूत स्वार्थ का परित्याग करने के साथ अनेकवार काराबद्धता को स्वीकार किया है। कारागार में उन्होंने कष्टमय कठोर जीवन अतिबाहित किया है। इस प्रकार हमारे विचार में उनका त्याग सर्वथा स्वर्णाक्षरों से लिपिबद्ध किये जाने योग्य एवं उनका कालजयी चरित्र समस्त देशवासियों द्वारा अनुकरणीय है। वस्तुतः महायोगी युगपुरुष सन्त श्री अरविन्द का लोकचैतन्या व बोधक महत्प्रयोजन सापेक्ष धरावतरण एवं तज्जीवनवृत्त के वैशिष्ट्यजात को प्रतिपाद्य बनाकर यह दृश्यकाव्य निश्चित रूप से कालजयी महनीय अनुपम ग्रन्थ है, साथ ही 'राष्ट्र-चेतना की शिक्षा के कर्णधार : सन्त श्री अरविन्द' यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ❑

औरंगजेब की 'मृत्यु या इस्लाम' की नीति से क्षुब्ध होकर ही दशमेश गुरू गोविन्द सिंह को तेग और तलवार उठानी पड़ी। हिन्दू जाति की दीन-हीन अपमानित स्थिति और अपने पिता की नृशंस हत्या से क्रुद्ध होकर ही उन्होंने 'खालसा' की नींव डाली। 'खालसा' के माध्यम से उन्होंने पंजाब के हिन्दुओं को एक सैनिक शक्ति के रूप में संगठित किया। दशमेश की राष्ट्रीय भावना, सांस्कृतिक चेतना और वीर भावना की प्रखर अभिव्यक्ति उनके 'दशम ग्रन्थ' में हुई है। 'दशम ग्रन्थ' का महत्त्व उसमें संकलित वीर रसात्मक रचनाओं के कारण है।

संत कवियों का स्वातंत्र्य बोध और संघर्ष

डॉ. अन्नाराम शर्मा
सह आचार्य, हिन्दी राजकीय कन्या महाविद्यालय, नोखा (बीकानेर)

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन मे संतों का आविर्भाव काफी महत्त्वपूर्ण है। संतों के आगमन तक लगभग आधा भारत तुर्क सत्ता के अधीन आ चुका था। मुस्लिम शासकों ने स्थानीय प्रजा को बुरी तरह लूटा-खसोटा। यहाँ बलात् अरबी-फारसी भाषा, धर्म, साहित्य, कला एवं संस्थाएँ रोपित की गई। इस अन्याय पूर्ण शासन के विरोध स्वरूप राजनीतिक क्षेत्र मे महाराणा सांगा, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी और छत्रसाल बुंदेला जैसे वीर नायकों का उदय हुआ वहीं सांस्कृतिक क्षेत्र मे स्वामी रामानन्द, कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा, नानक, तुलसी, सूर, महामति प्राणदास सरीखे संतो का आविर्भाव भी हुआ। ये सन्त केवल प्रभु आराधक भक्त ही नहीं थे, प्रखर राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न स्वातंत्र्य वीर भी थे। उन्होंने विदेशी सत्ता और संस्कृति के विरुद्ध एक प्रतिरोध खड़ा किया। शासकों द्वारा इस समाज को खोखला और कमजोर करने के लिए फैलायी जा रही भ्रांतियों और षड्यंत्रों को उजागर करते हुए उसका प्रतिकार किया। लोभ, लालच और भयवश करवाये जा रहे मतान्तरण का विरोध किया। राष्ट्र की सोयी हुई शक्ति को जगाया। अन्यथा कोई कारण नहीं था कि आततायी सिकन्दर लोदी कबीर को हाथी के पैरों तले कुचलवाता और न गुरु अर्जुन और गुरु तेगबाहदुर के साथ बर्बरतापूर्ण आचरण का कोई कारण नजर आता है।

वस्तुतः इन सन्तों ने पूरे देश में घूम-घूम कर विदेशी सत्ता, संस्कृति और सिद्धान्तों के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया था। हजारों की संख्या मे सन्त अपने घर-बार और कुटियाओं को छोड़कर पूरे देश मे फैल गए। उत्तर के सन्त दक्षिण और दक्षिण के उत्तर मे जाते। पंजाब मे उत्पन्न गुरुनानक काशी, मथूरा, चित्रकूट की यात्रा करते हुए जगन्नाथ पुरी पहुँचते हैं और चैतन्य के शिष्य बंगाल से घूमते हुए वृंदावन आते हैं । गुजरात में जन्में दादूदयाल अनेक कष्ट और बाधाओं को पार करते हुए जयपुर आते हैं और महाराष्ट्र से उठकर नामदेव घूमते हुए पंजाब पहुँचते हैं और वहां जनता को संगठित कर सत्ता को चुनौती देते हुए मंदिर बनवाते हैं। कैसी प्रभु भक्ति है यह? भगवद् भक्ति तो कुटिया में भली प्रकार सम्पन्न होती। वस्तुतः इनका लक्ष्य विदेशी शासकों की अन्यायपूर्ण नीतियों के विरोध में अखिल हिन्दू समाज को जागृत कर व्यापक संघर्ष के लिए तैयार करना था। तत्कालीन शासकों ने इस आन्दोलन को बिखेरने और लक्ष्य भ्रष्ट करने के इनके प्रत्यन किये। संत रविदास को इस्लाम में दीक्षित करने के लिए सिंकदर लोदी ने सदना को भेजा पर सदना के माध्यम से उन्होंने सत्ता को साफ-साफ बता दिया वेद धर्म सबसे बड़ा, अनुपम सच्चा ज्ञान, फिर

क्यो छोड़ इसे पढ़लूं झूठ कुरान। वेद धर्म छोडू नहीं, कोसिस करों हजार, तिल-तिल काटो चाहि, गला काटो कटार। (रैदास रामायण)

संतों ने देश की प्रकृति और संस्कृति के प्रति चेतना उत्पन्न की। सामाजिक विषमता, अस्पृश्यता और बाह्य आडम्बरों से मुक्ति की राह सुझाते हुए स्वस्थ एवं संगठित समाज का पथ प्रशस्त किया। कबीर ने दशरथ पुत्र राम को नया रूप दिया जिससे हमारे मतांतरित बंधु भी उसका अवलम्ब ग्रहण कर सकें। बंगाल में चैतन्य ने कृष्ण का नाम मुसलमानों के लिए भी खोल दिया। चैतन्य के मुसलमान 'शिष्य खुदा या अल्लाह न कहकर कहरि' कहा करते थे। संत लालदास, दादूदयाल, प्राणदास सरीखे अनेक संत हुए जिनकी प्रेरणा पाकर कई सरल हृदय मुसलमान वैष्णव भक्ति की ओर झुक आए। इन मुसलमान भक्तों के हृदय में वेद, उपनिषद, गीता, रामायण और भागवत की भाव धाराएँ उमड़ती रही। औरंगजेब इसी कारण परेशान रहा। उसके दिमाग में इस्लाम का जो आदर्श था वह साकार नहीं हो पाया। मुल्ला-मौलवियों और कट्टरपंथी धर्मवेत्ताओं ने नव विकसित भारतीय इस्लाम और हिन्दुओं के प्रति उसमें द्वेष और घृणा के बीज बोए। इसी से उसने हिन्दु मंदिरों को ढहाने संबंधी फरमान जारी किए।

संत कवियों ने तत्कालीन राजनीतिक-धार्मिक हलचलों एवं उठा-पटक के प्रति उदासीनता नहीं बरती अपितु धर्मांध सत्ता के अत्याचार के विरुद्ध एक सशक्त, प्राणवान् राष्ट्रीय चेतना का प्रसार किया। इस चेतना के दर्शन सर्वप्रथम हमें पंजाब में होते हैं। यहाँ गुरु नानकदेव ने बाबर के अत्याचार और दुर्व्यवहार से दु:खी होकर 'खून के सोहले' लिखे। डॉ. धर्मपाल सिंहल ने लिखा है 'यह पहला ऐसा अवसर था जब एक भगवद् भक्त, संत शिरोमणि किन्तु सजग समाजशास्त्री, गुरु कवि के सरल, निष्कपट और उदार हृदय से अत्यंत कठोर भर्त्सनाजनक और मर्मस्पर्शी वाणी ने स्वर लिया था। क्योंकि उन्होंने पंजाब की पावन धरती को विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा पददलित होते देखा था। सत्य ही पंजाब में सर्वप्रथम हिन्दी वीरकाव्य प्रणेता चंदवरदाई के बाद यह पहला समय था, जब किसी कवि ने राष्ट्रीय जीवन एवं मूल्यों की हासमान गति पर चार 'खून के आँसू' बहाये थे। नानक ही थे जिन्होंने इस विदेशी आक्रमण के पीछे भारतीय जीवन-मानो अथवा भारतीयता की रीढ़ की हड्डी भारतीय सांस्कृतिक पतन के दर्शन किये थे। जिन्होंने 'खत्रियां त धरम छोडिया' कहकर देश के क्षात्र-धर्म को ललकारा था, 'मलेच्छ भाषा गही' कहकर विदेशी भाषा के साम्राज्यवाद को फैलता हुआ अनुभव किया था।' गुरू नानक ने महसूस किया कि मुस्लिम शासक हिन्दुओं की सहिष्णुता को उनकी कमजोरी मान रहे हैं और उन्हें जोर-जबरदस्ती, फूट डालकर, हमला कर, लालच देकर, जजिया लगाकर, मंदिर ढहाकर, भयाक्रान्त कर -मुसलमान बना रहे हैं। गुरु ने इस सृष्टि के मालिक से पूछा -

खुरासान खसमाना की
आ हिन्दुस्तानु डराइया।
आपै दोसु न देई करता
जसु करि मुगलु चढ़ाइया।।
एती मार पड़ कर लाणै
तैं की दरदु न आइया।
करता तू समना का सोई।

तयुगीन राजपूत राजाओं की चापलूस मनोवृत्ति और विलासप्रियता सिक्ख गुरू की पैनी निगाहों ने न बच सकी। संघर्ष, वीरत्व और स्वदेशानुराग उन राजाओं के जीवन से निकल भागे थे। अब वे फारसी दरबार में याचक की मुद्रा में दीन भाव से खड़े रहते। गुरू उनसे पूछते हैं कि तुम्हारे मनोरंजन के साधन कहाँ लुप्त हो गए? तुम्हारे घोड़े और तबेले कहाँ खो गए? तुम्हारी रणभेरियाँ और शहनाइयाँ मौन क्यों हो गयी? तुम्हारी तलवारों की म्यानें, तुम्हारे रथ, तुम्हारी लाल वर्दियाँ, तुम्हारे आदमकद दर्पण और तुम्हारे सुंदर मुख-सब कहाँ चले गए?

कहाँ खेल तबेला, घोड़े, कहाँ मेरी सहनाई। कहाँ सुतेगबंद गाड़े रडि, कहाँ सुलालकवाई। कहाँ सु आरसीआ, मुँह बके ऐथे दिसहि नाही।

मध्यकालीन मुस्लिम शासकों में सिकन्दर लोदी और औरंगजेब सर्वाधिक कट्टर थे। सिकन्दर लोदी ने मुल्ला-मौलवियों के पाखण्ड को चुनौती दे रहे संत कबीर को उन्मत्त हाथियों के पैरों तले कुचवाया तो औरंगजेब की तंगनजरी का शिकार गुरु गोविन्द सिंह के पुत्र, नवें गुरु तेगबहादुर और दशमेश स्वयं हुए। बुन्देलखण्ड के एक अल्पज्ञात संत कवि निपट निरंजन ने आलमगीर के कत्लेआम की तीखी भर्त्सना की है -

चारों दिशा मारामार,
किया तेने कत्लेआम,
तेग बहादुर की शीश कटाई है।
कै निपट निरंजन सुनो आलमगीर,
सच्चा मन जनेऊ जला,
खाना तब खाई है।।

औरंगजेब की अनीति और अनाचार को इस कवि ने निर्भयतापूर्वक उजागर किया है। इनकी भाषा अवश्य मिली-जुली है किन्तु सत्य का बयान करने में पूर्ण समर्थ है। आलमगीर को प्रेम और मानवता की सीख देते हुए वे कहते हैं -

जान को तुझे है खौफ, तूने लाखों फौज उसी में समझा मौज, उसी में ऐंठे हैं। आलमफना निपट कहाँ तू आलमगीर तेरे नामधारी राजा कई जमीं पर लेटे हैं।।

नश्वर देह से इतने उत्पात? कवि ने गर्वोन्मत्त सुल्तान के दुराग्रही व्यक्तित्व की भर्त्सना के साथ-साथ तत्कालीन सामंती भोग विलास की ओर भी संकेत कर दिया है। औरंगजेब की 'मृत्यु या इस्लाम' की नीति से क्षुब्ध होकर ही दशमेश गुरू गोविन्द सिंह को तेग और तलवार उठानी पड़ी। हिन्दू जाति की दीन-हीन अपमानित स्थिति और अपने पिता की नृशंस हत्या से

क्रुद्ध होकर ही उन्होंने 'खालसा' की नींव डाली। 'खालसा' के माध्यम से उन्होंने पंजाब के हिन्दुओं को एक सैनिक शक्ति के रूप में संगठित किया। दशमेश की राष्ट्रीय भावना, सांस्कृतिक चेतना और वीर भावना की प्रखर अभिव्यक्ति उनके 'दशम ग्रन्थ' में हुई है। 'दशम ग्रन्थ' का महत्त्व उसमें संकलित वीर रसात्मक रचनाओं के कारण है। इन रचनाओं में 'विचित्र नाटक', 'रामावतार' एवं 'कृष्णावतार' विशेष उल्लेखनीय है। 'विचित्र नाटक' चरित काव्य शैली में लिखी गई एक आत्मकथात्मक कृत्ति है। इसकी रचना गुरू ने निराश हिन्दू जनता ने जातीय स्वाभिमान एवं धर्मरक्षा के उच्च भावों को उद्दीप्त करने के महान उद्देश्य से की है। कवि ने स्वयं लिखा है –

हम इह काज जगत मो आये
धरम हेत गुरूदेव पठाए।
जहां तहां तुम धरम विचारो,
दुसट देखियत पकरि पछारो।

गुरू गोविन्द सिंह ने राम और कृष्ण के चरित्र पर आधारित उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य भी लिखे हैं, किन्तु इनका लक्ष्य अवतारों के प्रति भक्ति उत्पन्न करना नहीं वरन् धर्मयुद्ध के लिए उत्साह और प्रेरणा उत्पन्न करना है। गुरू गोविन्द सिंह का अवतारवाद में विश्वास नहीं था। उनके कृष्ण भी लीलाधारी रसेश्वर नहीं है; दुष्ट दलन ही उनका ध्येय है। 'कृष्णावतार' में वर्णित कंस, जरासंध आदि असुर अपना पौराणिक स्वरूप त्यागकर मुगल शासकों के प्रतीक बन गये हैं। इस रचना में भी कवि का उद्देश्य स्पष्ट है –

अवर वासना नाहि प्रभ
धरम जुद्ध की चाइ।

औरंगजेब के ही अत्याचारों के एक और चाक्षुष द्रष्टा है – महामति प्राणनाथ। महामति प्राणनाथ प्रणामी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। ये मूलत: जामनगर के रहने वाले थे और मानवीय स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर थे। इनकी रचना 'कुजलम स्वरूप' या तारतम वाणी में विश्व की विभिन्न धर्म संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ है। पर औरंगजेब के जुल्मों को देख इनका जातीय स्वाभिमान जाग उठा।

औरंगजेब के आतंकपूर्ण साम्राज्य का इन्होंने हू ब हू चित्रण किया है –

हरद्वार ढहाए उठाए तपसी तीरथ गौ वध कैयों विघन। ऐसा जुलम हुआ जग में जाहेर, पर कमर न बांधी रे किन।। सुर ने केहेलाए रे सेवा करे असुर की, जो दारू बाए उडावे देहर। हिन्दू नाम रे सेन्या तिनकी होए खड़ी, ऐसा कुलिए किया रे केहेर।। प्रभू प्रतिमा रे गज पाउँ बांध के, घसीट के खंडित कराए। फरसबन्दी ताकी करके, तापर खरक चलाए।। औरंगजेब के कट्टरपंथी कार्यों – मूर्तियों को हाथी के पाँव से बाँधकर घसीटना, मस्जिद की सीढियों में उनके टुकड़े चिनवाना, फर्शबन्दी के लिए देव-विग्रह तुड़वाना- से उत्पन्न घनीभूत पीड़ा और हिन्दुओं की सोयी हुई शक्ति को झिंझोड़ने के लिए महामति को हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता और भारत भूमि पर जन्म लेने के विरल सौभाग्य का उद्घोष करना पड़ा –

त्रैलोकी में उत्तम खण्ड भरत को,
तामें उत्तम हिन्दू धरम।
ताके छत्रपतियों के सिर आए
रही इत सरम।।

भारतभूमि की दुर्दशा और छत्रपतियों की अय्याशी को देख कवि को शर्म आने लगती है। वे क्षत्रियों को अपने प्राचीन गौरव, वीरता एवम् बलिदान भावना का स्मरण करवाते हैं। उनके मर्म पर चोट करते हैं –

छूटत है खडग छत्रियों से,
धरम जात हिन्दुआन।
सत न छोड़ो रे सतवादियों,
जोर बढ्यो तुरकान।।

शासकीय क्रूरता की उत्तरोतर वृद्धि देखकर महामति राजा जसवन्त सिंह को पत्र लिखते हैं। आमेर के राजवंश से सम्बन्ध साधते हैं। उदयपुर के राणा राजसिंह के पास जाकर अनुरोध करते हैं, औरंगाबाद जाकर बून्दी नरेश मानसिंह हाड़ा से मिलते हैं और औरंगजेब के विरुद्ध लामबद्ध होने का आह्वान करते हैं। परन्तु सर्वत्र निराशा ही हाथ लगती है। अंतत: वे बुंदेला नायक वीर छत्रसाल के रूप में पराक्रमी राष्ट्रोद्धारक की पहचान करते हैं और उसे अजेय पुरुषार्थ प्रदान करते हैं। महामति ने छत्रसाल को आत्मबल, परमज्ञान और शौर्य की प्रतीक तलवार भेंट की। बुन्देला वीर के सैनिक अभियानों को महामति ने ही गति दी। उन्होंने विनाश के कगार पर खड़े मानव धर्म को सम्बल प्रदान किया। डॉ. रणजीत साहा ने लिखा है 'महामति ने त्रिलोकी में भारतवर्ष और हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को बार-बार रेखांकित किया। अखिल विश्व चेतना और विश्व धर्म की प्रस्तावित अवधारणा को सस्तुत और सम्पुष्ट करने के महान् संकल्प को नेतृत्व देने वाले महामति अपनी जातीयता को किसी भी कीमत पर नहीं खोना चाहते।

इस प्रकार मध्यकालीन भारत में कबीर, गुरु नानक, निपट निरंजन, गुरू गोविन्द सिंह, महामति प्राणनाथ आदि अनेक संत कवि हुए हैं जो धर्म के आवरण में तत्कालीन राष्ट्रीय प्रश्नों से मुठभेड़ कर रहे थे। वे आध्यामिक स्वायत्तता के साथ राजनीतिक स्वातंर्त्र के समर्थक थे। इन कवियों का विरोध उन आसुरी शक्तियों से था, जो अन्याय, अधर्म, असत्य, अनीति और अत्याचार के बल पर इस राष्ट्र की अस्मिता को नेस्तनाबूद करने पर तुली थी। आतताइयों द्वारा यहाँ के धर्म, साहित्य और सांस्कृतिक संपदा को उजाड़कर अपनी संस्कृति को लादने के उपक्रम ने इन सरल हृदय संतों में विद्रोही चेतना जागृत कर दी। ये संत प्रभु आराधक थे किन्तु राष्ट्रीय स्वाभिमान, स्वतंत्रता और धर्म की रक्षा के लिए इन्होंने निर्भीकतापूर्वक जन जागरण किया। ❑

जनजातीय संस्कृति का सनातनी जयघोष - 'जय गुरु'

डॉ. राजेश कुमार जोशी
सह आचार्य, संस्कृत विभाग
श्री गोविन्द गुरु राजकीय महाविद्यालय,
बाँसवाड़ा (राजस्थान)

दक्षिणी राजस्थान और उत्तरी गुजरात के जनजातीय क्षेत्र में भक्तिभाव जगाने के साथ विदेशी दासता से मुक्ति का सन्देश देने वाले गोविन्द गिरि का व्यक्तित्व भारत की भक्ति परम्परा के एक कुशल सन्त के रूप में प्रख्यात है। ईस्वी सन् 1863 में डूंगरपुर के वेड़सा नामक गाँव के बंजारा परिवार में जन्मे गोविन्द गिरि आदिवासी क्षेत्र में आजादी के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति और कुरीतियों के उन्मूलन का शंखनाद करने वाले प्रखर पुरुष बने। राजस्थान का जलियां वाला कहे जाने वाले - 'मानगढ़ धाम' के गुरु की छवि सम्पूर्ण दक्षिण राजस्थान में समाज सुधारक और देशभक्त के रूप में स्थापित है। मानगढ़ की पहाड़ी आदिवासियों की आस्था का प्रतीक है। इसकी सीमाएँ गुजरात के पंचमहाल के संतरामपुर और बाँसवाड़ा के दक्षिणी भाग को छूती हैं।

अपना जीवन परोपकारार्थ आहूत करने वाले गोविन्द गिरि गोविन्द गुरु के रूप में गुजराती और वागड़ी भाषा के भजनों और लोकगीतों में स्पष्टतया परिलक्षित होती है। परम्पराओं और मूल्य संरक्षण की दिशा में गोविन्द गुरु का अवदान विस्मृत नहीं किया जा सकता। जनजातीय क्षेत्र में भगत परम्परा के ध्वजवाहक गोविन्द गुरु ने कोई औपचारिक प्रारम्भिक शिक्षा लिये बिना ही आर्य समाज के साधकों से हुए एक सम्पर्क में ही समाज सुधार और धार्मिक दिशा में जाना निश्चित कर लिया। उन्होंने प्रारम्भ में पंचमहाल के दाहोद, झालोद और संतरामपुर में वनवासी भाई-बन्धुओं की सभा आयोजित कर प्रवचन दिये। इसके बाद गाँव-गाँव में धूणी केन्द्र स्थापित किये। जनजातीय समाज में व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन की दिशा में उन्होंने धर्मध्वजा की प्रतीक 'झण्डियाँ लगवाई। सार्थक परिवर्तन लाने के लिए उन्होंने अनेक लोगों को 'भगत' (भक्त अथवा अनुयायी) बनाया। इन्हीं भक्त लोगों का संगठन बनाने के उद्देश्य से 1904 में उन्होंने सम्प सभा की स्थापना की। सम्प सभा ने जनजातियों में एकेश्वरवाद और स्वच्छ आचार-विचार अपनाते हुए माँस-मदिरादि से दूर रहकर नैतिक अभ्युदय का सूत्रपात किया। गोविन्द गुरु के इस नैष्ठिक कार्य ने आदिवासियों के सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में एक नई चेतना जगाई। धार्मिक सत्संग द्वारा समाज सुधार का शंखनाद करने वाले इस गुरु की छाप दिखने लगी। लगातार बढ़ते अनुयायिओं और धर्मध्वजाओं के बीच 'जय गुरु' का जयघोष बाँसवाड़ा-डूंगरपुर और सीमावर्ती क्षेत्रों में गूंजायमान होने लगा।

'जय गुरु' का यह जयघोष इस सम्पूर्ण क्षेत्र में अभिवादन का प्रतीक बन गया, जो सनातन भारतीय संस्कृति की गुरु

परम्परा का बोध कराता है। यह जयघोष आज भी जनजातीय संस्कृति का सर्वमान्य अभिवादन वाक्य है।

पैदल यात्रा और जगह-जगह धूणियों की स्थापना करते हुए पूज्य गोविन्द गुरु के साधना मार्ग में एक समय ऐसा आया कि बाँसवाड़ा-डूंगरपुर रियासत के साथ ही गुजरात मध्यप्रदेश के सीमावर्ती इलाकों में सैकड़ों धूणियाँ स्थापित हो गई और ये धूणियाँ ही इस क्षेत्र में आजादी के आन्दोलन का शक्ति केद्र बन गईं। ब्रिटीश हुकूमत के दबाव में डूंगरपुर रियासत के महारावल ने तो गोविन्द गुरु देश-निकाला तक दे दिया। स्वाभिमानी और उसूलों पर जीने वाले इस महात्मा ने आदिवासी समाज में शराब, चोरी, लूट, डकैती सहित अनेक बुराइयों को जड़ से समाप्त करने का संकल्प लेते हुए डूंगरपुर रियासत छोड़ दी। इसके बाद उन्होंने गुजरात और आसपास के इलाकों में रहते हुए समाज सेवा के आन्दोलन को आगे बढ़ाया।

गोविन्द गुरु प्रवर्तित भगत सम्प्रदाय के सिद्धान्त

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पड़े भयंकर अकाल के समय प्रारम्भ हुआ भगत सम्प्रदाय का उद्देश्य समाजसुधार ही था। बहुत कम समय में यह भक्ति सम्प्रदाय धूणियों और धर्म-ध्वजाओं के माध्यम से तेजी से फैला। जनजाति समाज को एक नई पहचान प्राप्त हुई और उसमें धार्मिक चेतना का नवीन सूत्रपात हुआ। गोविन्द गुरु ने भगत सम्प्रदाय को मजबूत करने के लिये मेत कोटवाल, गोवाल महाराज और महन्त महाराज जैसे धार्मिक पद सृजित किये और उन पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया। भगत सम्प्रदाय के सिद्धान्त इस प्रकार हैं -

1. एकेश्वरवाद में विश्वास और प्रखर श्रद्धा रखना। 2. सम्पूर्ण समर्पण और भक्ति के साथ ईश्वर की पूजा करना। 3. नित्य स्नान करना, स्वच्छभाव से ईश्वर आराधन और सूर्य दर्शन। 4. आत्मीय जनों के प्रति कृतज्ञता का भाव रखना। 5. झाड़-फूंक करने वाले भोपों और तान्त्रिकों पर विश्वास न करके भगत सम्प्रदाय की धूणियों और हवन में श्रद्धा रखना क्योंकि ईश्वर तत्त्व की उपस्थिति हवनकुण्ड के आसपास मौजूद रहती है। 6. खूनखराबे और लूटपाट से दूर रहना। 7. व्यभिचार नहीं करना। 8. अत्यधिक धन का लोभ नहीं करना। 9. चोरी नहीं करना। 10. झूठे आश्वासन नहीं देना। 11. धार्मिक त्योहारों पर उपवास करना। 12. मदिरा और मांस का सेवन नहीं करना। 13. विधर्मियों के हाथ से बना भोजन नहीं खाना।

गुरुपदिष्ट मार्ग को समाज ने किया अंगीकार

मद्य-निषेध और नित्य स्नान की बात को बार-बार आवृत्त करने से जनजातीय समाज पर गोविन्द गुरु के उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा। इससे पहले आदिवासी समाज में शराबहीन जीवन की कोई कल्पना नहीं कर सकता था। गोविन्द गुरु की अगुवाई में भगत सम्प्रदाय के अनुयायिओं ने इसे स्वीकार किया और अपने घरों पर झण्डियाँ लगवाई। भगत सम्प्रदाय में नित्य स्नान करके भगवान् के प्रति श्रद्धाभाव रखने, यज्ञकुण्ड की प्रतिकात्मक धूणियों में आहूतियाँ देने और उत्तम आचार-विचार के साथ दैनिक कार्य करने का एक नया दौर प्रारम्भ हुआ। गुजरात के सीमावर्ती और दक्षिणी राजस्थान के आदिवासी समाज में एक क्रान्तिकारी युगपरिवर्तन प्रवर्तित हुआ।

भील समाज में परम्परा से चली आ रही कुरीतियों, भ्रान्तियों और अज्ञानता के विरुद्ध छेड़ी गई इस जंग में गोविन्द गुरु को आशातीत सफलता मिली। इस भक्ति आन्दोलन का प्रभाव दक्षिणी राजस्थान, गुजरात के पंचमहाल और पश्चिमी मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों में तेजी से फैला। गोविन्द गुरु के उपदेशों, धूणियों और धर्मध्वजाओं से हजारों की तादाद में उनके अनुयायी गुरु-प्रवर्तित मार्ग पर चल पड़े। गोविन्द गुरु के उपदेश सफल सिद्ध हो रहे थे और उनके महान् प्रयत्नों से उनके अनुयायी बड़ी तादाद में शराब छोड़

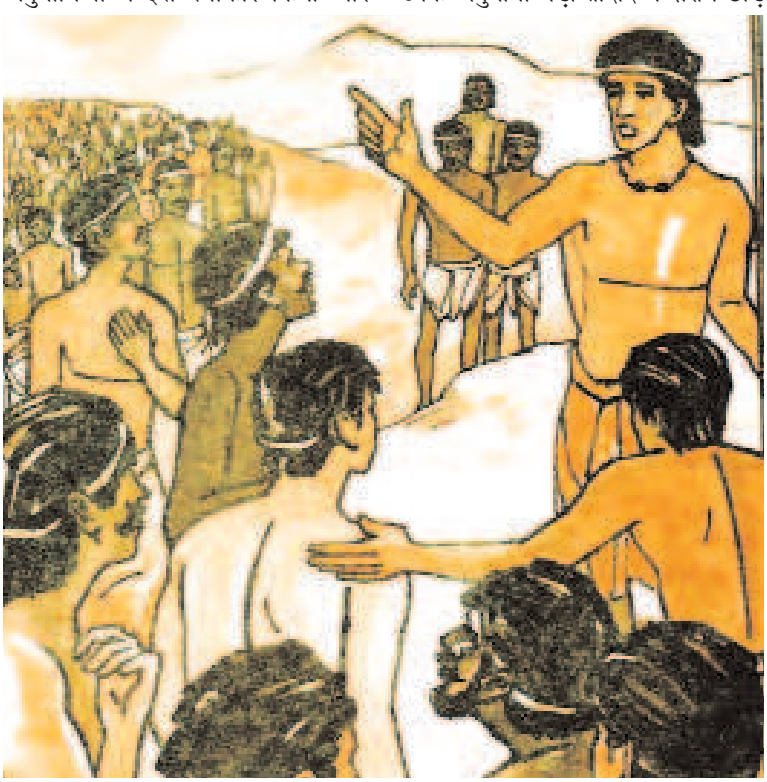

रहे थे। इसके कारण रजवाड़ों और रियासतों में मदिरा की मांग तेजी से घटने लगी। अक्टूबर 1913 में बाँसवाड़ा राज्य में शराब बिक्री 18470 गेलन थी, जो घटकर वर्ष के अन्त में 5154 गेलन रह गई। इसी प्रकार संतरामपुर में भी शराब की मांग घटने लगी। आदिवासी वेठप्रथा जैसी कुरीतियों को लेकर भी जागरुक होने लगे।

पूज्य गोविन्द गुरु के कारण ही भगत बने आदिवासियों ने केसरी साफा और गले में रुद्राक्ष की माला धारण की, जिससे उनकी एक विशिष्ट पहचान बनी। एक आदर्श गुरु के कारण आजादी से पहले ही जनजाति क्षेत्र का एक बड़ा तबका शराब, मांस, चोरी और अन्यान्य कुरीतियों का परित्याग कर सुसंस्कृत बनने की ओर चल पड़ा। आदिवासी अनेक कुत्सित योजनाओं और षडयन्त्रों के कारण ही गोविन्द गुरु ने अपने शिक्षित शिष्य पूंजा, धीरजी पारगी आदि को आगे कर राजनीतिक नेतृत्व की योजना बनाई।

ईस्वी सन् 1913 तक गोविन्द गुरु के भक्तों की संख्या हजारों में पहुँच चुकी थी। मार्गशीर्ष पूर्णिमा गोविन्द गुरु का जन्मदिन था अत: उनके भक्तों ने 7 नवम्बर, 1913 के ही दिन मानगढ़ पहाड़ी पर एकत्र होकर गुरु के जन्मदिन के उपलक्ष्य में एक भक्त सम्मेलन और हवन आयोजित करने का निर्णय लिया। एक सप्ताह पहले से ही मानगढ़ की पहाड़ी पर जनसैलाब उमड़ना शुरु हो गया। धार्मिक मेले को लेकर उस क्षेत्र में सम्प्रदाय के झण्डे बड़ी मात्रा में बिकने लगे। गुरु के प्रति अगाध आस्था के कारण लगभग 3000 आदिवासी भगत नारियल, घी और एक आना रोकड़ा लेकर उस स्थान पर एकत्रित हुए। वे अपने गुरु के निर्देशन में ब्रिटीश हुकूमत के सामने डटे रहे और भगत सम्प्रदाय के मनसूबों को कुचलने का विरोध करते रहे।

दिनांक 17 नवम्बर 1913 को निहत्थे गुरु भक्तों पर हुई कार्रवाई में मानगढ़ रक्तरंजित हो गया। फौजों ने गुरु भक्तों को एक-डेढ़ घण्टे में ही तितर-बितर कर दिया। 900 भक्तों को गिरफ्तार किया गया। जिनमें से में 800 अनुयायियों को पुन: मानगढ़ पर एकत्रित नहीं होने की शर्त पर छोड़ दिया गया। गोविन्द गुरु द्वारा जारी किये गये आँकड़ों के अनुसार इस हमले में लगभग 1500 भील शहीद हुए। इस

भील समाज में परम्परा से चली आ रही कुरीतियों, भ्रान्तियों और अज्ञानता के विरुद्ध छेड़ी गई इस जंग में गोविन्द गुरु को आशातीत सफलता मिली। इस भक्ति आन्दोलन का प्रभाव दक्षिणी राजस्थान, गुजरात के पंचमहाल और पश्चिमी मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों में तेजी से फैला। गोविन्द गुरु के उपदेशों, धूणियों और धर्मध्वजाओं से हजारों की तादाद में उनके अनुयायी गुरु-प्रवर्तित मार्ग पर चल पड़े। गोविन्द गुरु के उपदेश सफल सिद्ध हो रहे थे और उनके महान् प्रयत्नों से उनके अनुयायी बड़ी तादाद में शराब छोड़ रहे थे। इसके कारण रजवाड़ों और रियासतों में मदिरा की मांग तेजी से घटने लगी। अक्टूबर 1913 में बाँसवाड़ा राज्य में शराब बिक्री 18470 गेलन थी, जो घटकर वर्ष के अन्त में 5154 गेलन रह गई। इसी प्रकार संतरामपुर में भी शराब की मांग घटने लगी।

हत्याकाण्ड को 'जलियावाला बाग' जैसा हत्याकाण्ड कहा जाता है।

गोविन्द गुरु को मुख्य अपराधी मानकर गिरफ्तार किया गया। 1914 में उन पर मुकदमा चला जिसमें उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई किन्तु बाद में सजा को दस वर्ष कारावास की सजा के रूप में परिवर्तित किया गया। 12 अक्टूबर, 1923 को बाँसवाड़ा, डूंगरपुर रियासत में प्रवेश नहीं करने की शर्त पर उन्हें जेल से रिहा किया गया। इसके बाद पंचमहाल में उन्होंने अपने भगत सम्प्रदाय का प्रचार प्रारम्भ किया और दाहोद में भील सेवा मण्डल से जुड़े रहे। 1931 में लीमड़ी के पास एक गाँव में पूज्य गोविन्द गुरु ब्रह्मलीन हो गये।

ब्रिटीश फौज की जीत का कारण उनका षडयन्त्र और कपट योजना थी, जिसमें उन्होंने धूणी में गाय का रक्त डालकर उसे अपवित्र कर दिया। ऐसा उल्लेख 'हांसु बाबा तो नही हमझे मानगढ़ मा ते धमाल करे' नामक एक गुजराती गीत में वर्णित है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में जब सम्पूर्ण भारतवर्ष अंग्रेजी हुकुमत के खिलाफ लामबद्ध था, तब में अनेक आदिवासी भगत अनाम उत्सर्ग हुए। गोविन्द गुरु ने आदिवासी समाज के उत्थान के लिये जो नियम स्थापित किये उससे जनजाति क्षेत्र के कालाकल्प का दौर प्रारम्भ हुआ।

पूज्य गोविन्द गुरु और उनके भक्तों की स्मृति में प्रतिवर्ष मार्गशीर्ष पूर्णिमा पर मेला भरता है, जिसमें राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश से हजारों की संख्या में भगत परम्परा के अनुयायी पहुँचते हैं और अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

राज्य सरकार ने विगत वर्षों में मानगढ़ धाम को धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व के साथ पर्यटकीय आकर्षण का केन्द्र बनाने के उद्देश्य से अनेक विकास कार्य कराये हैं। यहाँ निर्मित भव्य शहीद स्मारक और भित्तीय चित्रावलियाँ ऐतिहासिक महत्त्व का बोध कराती हैं। ❑

असम में वैष्णव मत का उद्भव एवं विकास

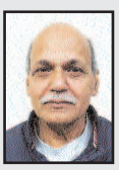

प्रो. दिनेश कुमार चौबे

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय
विश्वविद्यालय, शिलांग

ब्राह्मण एवं बौद्ध ग्रंथों में भारत के पाँच भाग किये गये हैं - पूर्वदेश (प्राच्य), पश्चिम देश (प्रतीच्य), उत्तरापथ (उदीच्य), दक्षिण पथ (दाक्षिणात्य) और मध्यदेश (अन्तर्वेद)। इन क्षेत्रों की सीमाएँ समय-समय पर बदलती रही हैं। चीनी यात्री ह्वेनत्स्यांग के अनुसार मध्यदेश का विस्तार उत्तर बंग तक और पूर्वदेश की सीमा पुण्ड्रवर्धन तक थी। इसी के अन्तर्गत वर्तमान असम, अरुणाचल, मणिपुर आदि हैं। असम का प्राचीनतम नाम 'प्राग्ज्योतिष' है जिसका उल्लेख 'रामायण', 'महाभारत', 'राजतरंगिणी' एवं 'भागवत' तथा 'कालिका' आदि पुराणों में मिलता है। इसके अतिरिक्त इसका एक अन्य नाम कामरूप भी प्रचलित रहा है। कई ग्रंथों में प्रागज्योतिष और कामरूप दोनों का उल्लेख हुआ है जिसमें कालिदास कृत 'रघुवंश' उल्लेखनीय है। तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (1228 ई.) में आहोम के इस क्षेत्र पर अधिकार होने के बाद उसकी असम शक्ति के कारण यह प्रान्त असम कहलाया, जबकि एक दूसरे मत के अनुसार यह नाम प्रदेश की असमान भौतिक क्षेत्र का सूचक है। सभ्यता के विकास के प्रारम्भ से आज तक यह क्षेत्र मुख्यत: प्राग्जयोतिष, कामरूप और असम के नाम से परिचित रहा है।

असम में वैष्णव मत और भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि के अध्ययन के लिए यहाँ प्रचलित अन्य मत एवं उपासना पद्धति को जान लेना अप्रासंगिक न होगा। कालिका पुराण एवं योगिनी तंत्र के अनुशीलन और इस क्षेत्र में प्राप्त अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शिव की उपासना असम में प्राचीन काल से होती रही है। राजा नरक द्वारा प्राग्ज्योतिष पर अधिकार के पूर्व यहाँ के निवासी किरात आदि शिवोपासक थे। कामरूप में शिवोपासना के कई प्रसिद्ध केन्द्रों का उल्लेख मिलता है - केदारेश्वर, कमलेश्वर (हाजो), विश्वनाथ हारूपेश्वर (तेजपुर), गोपेश्वर (सिंगरी), कामेश्वर, मणिकर्णेश्वर, उमानन्द (गुवाहाटी)। शिव की उपासना का सम्बन्ध राजाओं से रहा है जिनमें शोणितपुर का राजा बाण उल्लेखनीय है।

इसके पश्चात इस क्षेत्र में शाक्त मत का महत्त्व अधिक रहा। शिव-भक्त किरातों को शासन से हटाकर शासक बनने पर अपने वैष्णव मार्ग दर्शक विष्णु के आदेश से राजा नरक ने देवी पूजा को राजधर्म और कामा देवी (कामाख्या) को राज्य की देवी के रूप में स्वीकार किया। 'महाभारत' के द्रोणपर्व में विष्णु द्वारा नरक को 'वैष्णवास्त्र' देने का उल्लेख है। कालिका पुराण तथा योगिनी तंत्र में 'वैष्णवी शक्ति' दिये जाने का वर्णन है जिसमें 'शक्ति' शब्द से अस्त्र विशेष एवं

देवी दोनों अर्थ लिया जा सकता है। इस क्षेत्र में देवियाँ मातृ-भाव सम्पन्न मानी गयी हैं जिनके चार रूप प्राप्त होते हैं- मातृ रूपिणी-जगन्माता कामाख्या, पत्नी रूपी पार्वती, कुमारी रूपी त्रिपुर सुन्दरी और संहाररूपिणी तामेश्वरी (केचाई खाती)। पहली तीनों कामपीठ की देवियाँ हैं और चौथी सौमार पीठ की देवी दिक्करवासिनी के रूप में स्वीकृत हैं। कालिका पुराण के अनुसार तानेश्वरी के दो रूप-तीक्ष्णकान्ता और ललितकान्ता है। तीक्ष्णकान्ता ही उग्रतारा मानी गयी है जिसकी पूजा कामाख्या की भांति करने का विधान है। मेघालय के जयन्तिया पर्वत में जयन्तेश्वरी की पूजा में नर बलि का विधान था। देवी के अन्य रूपों में मनसा, शीतला, आई (माँ) आदि का प्रचलन पूरे असम में रहा है। वस्तुतः विभिन्न गोष्ठियों में पूजित देवियाँ कालान्तर में पार्वती के रूप में स्वीकृत हो गयीं।

शैव और शाक्त दो मुख्य मतों के अलावा बौद्धों के बज्रयानी सिद्धों ने भी कामरूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी थी। उनका विकृत रूप यहाँ 'रातिखोवा' सम्प्रदाय के रूप में प्रचलित हुआ। यह कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति आन्दोलन के पूर्व असम की धार्मिक स्थिति पूरी तरह अव्यवस्थित और वामाचार से पूर्ण कृच्छाचारों से ग्रस्त थी। वास्तव में कामरूप के निवासी निषाद, किरात आदि हिन्दुओं के विभिन्न समुदायों के देव-देवियों के साथ भारत के अन्य प्रान्तों से यहाँ आकर बसने वाले विभिन्न पौराणिक धर्मावलम्बियों के देव-देवियों का जो मिलन राजा नरक के काल में प्रारम्भ हुआ, उसका क्रम चलता रहा।

शेव, शाक्त, तन्त्र, कौलाचार वज्रयान मत के बीच ही असम में वैष्णव मत प्राचीन काल में प्रारम्भ हुआ और सभी विषम परिवेश के बावजूद धीमी गति से अपना विकास करता रहा। कदाचित उसका प्रारम्भिक स्वरूप भागवत मत और पांचरात्र मत के अनुरूप था जिसमें नारद पंचरात्र को यहाँ अधिक प्रधानता प्राप्त थी। पुरातात्विक प्रमाणों से विदित होता है कि ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के अंतिम या चौथी शताब्दी के प्रथम चरण में असम में वैष्णव मत का प्रारम्भ हो चुका था। इस दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा (280-320 ई.) के उमाचल शिलालेख में 'भगवत बलभद्र' के गुफा मन्दिर के निर्माण का उल्लेख किया जा सकता है। तत्पश्चात भूति वर्मा (510-550 ई.) के बरगंगा शिलालेख की प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'परमभागवत' शब्द वैष्णव मत के प्रचलन का सूचक माना जा सकता है। कामरूप में वैष्णव मत के आरम्भिक विकास का प्रमाण चौथी शताब्दी में मिलने के बावजूद उसके विकास की गति निर्बाध और सहज नहीं मानी जा सकती। कामरूप के राजा धर्मपाल द्वारा शैव मत का परित्याग कर वैष्णव मत ग्रहण किये जाने पर उन्हें कई विरोध झेलने पड़े होंगे। इस विषय में एक किंवदन्ती है कि धर्म परिवर्तन के कारण उन्हें कामाख्या के शाप से राज्य छोड़कर अज्ञातवास करना पड़ा। विभिन्न विरोधों के बावजूद कामरूप में वैष्णव मत की जड़ मजबूत होती गयी। आठवीं-दसवीं शताब्दी तक आते-आते न केवल स्थानीय देव-देवियों, बल्कि शिव-विष्णु, बुद्ध-विष्णु में अभिन्नता के प्रयास भी हुए। विभिन्न देवियाँ विष्णु की माया घोषित की जाने लगी। शुक्रेश्वर मन्दिर (गुवाहाटी) में बुद्ध-जनार्दन की प्रतिभा में विष्णु में बुद्ध के विलय का उदाहरण देखा जा सकता है। 'कालिका पुराण' की यह विशेषता है कि बड़े भावात्मक ढंग से यह विष्णु की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। त्रिदेवों में अभिन्नता एवं उनमें विष्णु की श्रेष्ठता उल्लेखनीय है। इस पुराण में मत्स्य, कूर्म, वराह, परशुराम और कृष्ण के अधिक वर्णन और नरसिंह, वामन और राम के उल्लेख मिलते हैं। गौण अवतारों में हयग्रीव, अनन्त और कपिल के अपेक्षित वर्णन हुए हैं।

असम में वैष्णव मत का आरम्भ एवं वैष्णव साहित्य का काल असमिया साहित्य का स्वर्णिम काल कहा जा सकता है जिसमें असमिया भाषा एवं साहित्य की पूर्णतः स्थापना हुई। वैष्णव साहित्य के महापुरुष शंकरदेव एवं माधवदेव सदृश साहित्यकारों ने न केवल संस्कृति-साहित्य को प्रतिष्ठित किया अपितु असमिया जाति समाज के चहुँमुखी विकास की मजबूत आधारशिला रखी। आज पूरा पूर्वोत्तर क्षेत्र इन दोनों महापुरुषों की प्रेरणा से हर क्षेत्र में विकास की ओर अग्रसर है। असमिया साहित्य की प्रतिष्ठा पूरे भारत वर्ष में है। असमिया वैष्णव साहित्य राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ करने में सर्व प्रकारेण समर्थ है।

नवीं शताब्दी में कामरूप में अनेक स्थलों पर विष्णु की पूजा होती थी। कालिका पुराण में कुल नौ विष्णु पीठों का उल्लेख मिलता है - मणिकुट, मत्स्यध्वज, पाण्डूनाथ, चित्रवह पर्वत, वासुदेव पीठ, भगवान पर्वत, मणिकर्ण, नन्दन पर्वत और जनार्दन गिरि। इनमें मणिकूट अधिक प्रसिद्ध है जहाँ विष्णु ने अपने हयग्रीव रूप में ज्वरासुर का बध किया। पाण्डूनाथ और जनार्दन गिरि अपेक्षया अल्पख्यात हैं। कामरूप के सौमार पीठ के दिक्कर क्षेत्र में विष्णु की पूजा प्रचलित थी। उनके आराध्य विष्णु के वासुदेव रूप की पूजा का केन्द्र विशेष वासुदेव पीठ के नाम से ख्यात था। वहाँ वासुदेव विष्णु नारद-पंचरात्र के अनुसार पूजित थे। पूजा मण्डल में मुख्य देव वासुदेव-विष्णु के अतिरिक्त पंच देवों- राम, कृष्ण, ब्रह्मा, शम्भू, गौरी की पूजा का विधान था। वासुदेव के अष्ट सहायक-बलभद्र, काम, अनिरूद्ध,

नारायण, ब्रह्मा, विष्णु, नरसिंह और वराह भी पूजित होते थे। इस तरह यह कहा जा सकता है कि कालिका पुराण कालीन कामरूप में वैष्णव मत का स्वरूप प्राय: पंचरात्र और भागवत मत के अनुरूप था। मध्यकालीन नव वैष्णव भक्ति आन्दोलन के पूर्व तक प्राय: यह रूप प्रचलित रहा। यहाँ गौरतलब है कि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जहाँ शाक्त-शैव मत कामरूप में नवीन उत्कर्ष प्राप्त करता है वहीं तांत्रिक वैष्णव मत भी उसके पीछे नहीं था। कामाख्या (1565 ई.), उमानन्द (16 वीं शताब्दी), अश्वक्लान्त (16 वीं शताब्दी), पाण्डुनाथ (1583 ई.), हयग्रीव माधव (1583 ई.) आदि विभिन्न मंदिरों का निर्माण प्राय: थोड़े से अन्तर के साथ प्राय: एक ही समय में हुआ।

उत्तर मध्यकाल में तांत्रिक वैष्णव मत में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का श्रेय महापुरुष शंकरदेव (1449-1568 ई.) को है जिन्होंने असम में नव्य वैष्णव भक्ति आन्दोलन का परिवर्तन कर अति उदार महापुरुषिया धर्म-एकशरण नामधर्म का प्रवर्तन किया। जिसमें विग्रह-पूजा, बीज, मंत्र, न्यास, व्यूह, शक्ति की बात नहीं रही। बल्कि केवल विष्णु-कृष्ण निर्गुन निराकार रूप में आराधना के केन्द्र बने। हर जगह किसी तरह प्रार्थना और नाम-कीर्तन-स्मरण प्रमुख रहा। इस प्रार्थना, कीर्तन का माध्यम संस्कृत भाषा की जगह लोक भाषा (ब्रजबुलि) माध्यम बनी। विष्णु आलीशान-अट्टालिकाओं, मठों से निकल कर सामान्य घरों-नामघरों में चले आये। इस युगान्तकारी भक्ति आन्दोलन के कारण असमिया जीवन के हर क्षेत्र में परिवर्तन-विकास का प्रारम्भ हुआ। परवर्ती काल में यहीं ब्रह्मनिका, महानुरूषिया और काल नामक संहतियों में बंट गया। आज इन संहतियों के सैकड़ों सत्रों और हजारों नामघरों के माध्यम से पूरे असम में वैष्णव मत पल्लवित-पुष्पित हो रहा है।

पूर्व मध्यकाल में वासुदेव विष्णु और नव्य वैष्णव आन्दोलन के फलस्वरूप विष्णु-कृष्ण की उपासना असम में प्रमुख रही। उसमें विष्णु के नरावतार राम को स्वतंत्र रूप से कभी महत्त्व नहीं मिला। राम की पूजा का प्रचलन यहाँ स्वतंत्र रूप से नहीं था। वासुदेव पीठ के देव-मण्डल में वासुदेव कृष्ण के साथ पूजित देवों में राम एक थे। उत्तर-मध्यकालीन नव वैष्णव भक्ति आन्दोलन में विष्णु के नरावतारों में देवकी पुत्र कृष्ण को महत्त्व मिला जिससे राम गौण हो गये। असम में कृष्ण और राम में भेद नहीं किया गया। श्रीकृष्ण के पश्चात उनके अभिन्न रूप में ही राम के नाम, गुण, लीलाओं के श्रद्धापूर्वक कथन, पाठन, गायन, कीर्तन, श्रवण एवं स्मरण को आवश्यक माना गया। एक शरण नाम धर्म में भगवत नाम का स्मरण करना सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है तथा उसके लिए स्वीकृत बीज मंत्र 'राम-कृष्ण-नारायण-हरि' में राम सम्मिलित हैं। कृष्ण से राम की अभिन्नता स्वीकृत होने के कारण ही कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण चरित्र के साथ ही रामचरित्र का भी गायन किया।

प्राक् वैष्णव युग का काल 1100 ई से 1450 ई. तक शंकरदेव के पूर्व तक माना जाता है। कुछ विद्वान इसे प्राकशंकरी युग भी कहते हैं। इस काल के प्रमुख कवि हैं- हेम सरस्वती, रूद्र कंदलि, हरिहर विप्र, कविरत्न सरस्वती और माधव कंदलि। मध्यकाल के पश्चात श्रीमंत शंकरदेव के प्रादुर्भाव से वैष्णव साहित्य का प्रारंभ माना जाता है जिसमें उल्लेखनीय हैं - शंकरदेव, माधवदव, अनन्त कंदलि, राम सरस्वती, रत्नाकर कंदलि, श्रीधर कंदलि एवं सार्वभौम भट्टाचार्य आदि।

अस्तु, असम में वैष्णव मत का आरम्भ एवं वैष्णव साहित्य का काल असमिया साहित्य का स्वर्णिम काल कहा जा सकता है जिसमें असमिया भाषा एवं साहित्य की पूर्णत: स्थापना हुई। वैष्णव साहित्य के महापुरुष शंकरदेव एवं माधवदेव सदृश साहित्यकारों ने न केवल संस्कृति-साहित्य को प्रतिष्ठित किया अपितु असमिया जाति समाज के चहुँमुखी विकास की मजबूत आधारशिला रखी। आज पूरा पूर्वोत्तर क्षेत्र इन दोनों महापुरुषों की प्रेरणा से हर क्षेत्र में विकास की ओर अग्रसर है। असमिया साहित्य की प्रतिष्ठा पूरे भारत वर्ष में है। असमिया वैष्णव साहित्य राष्ट्रीय एकता की भावना को सुदृढ़ करने में सर्व प्रकारेण समर्थ है। ❑

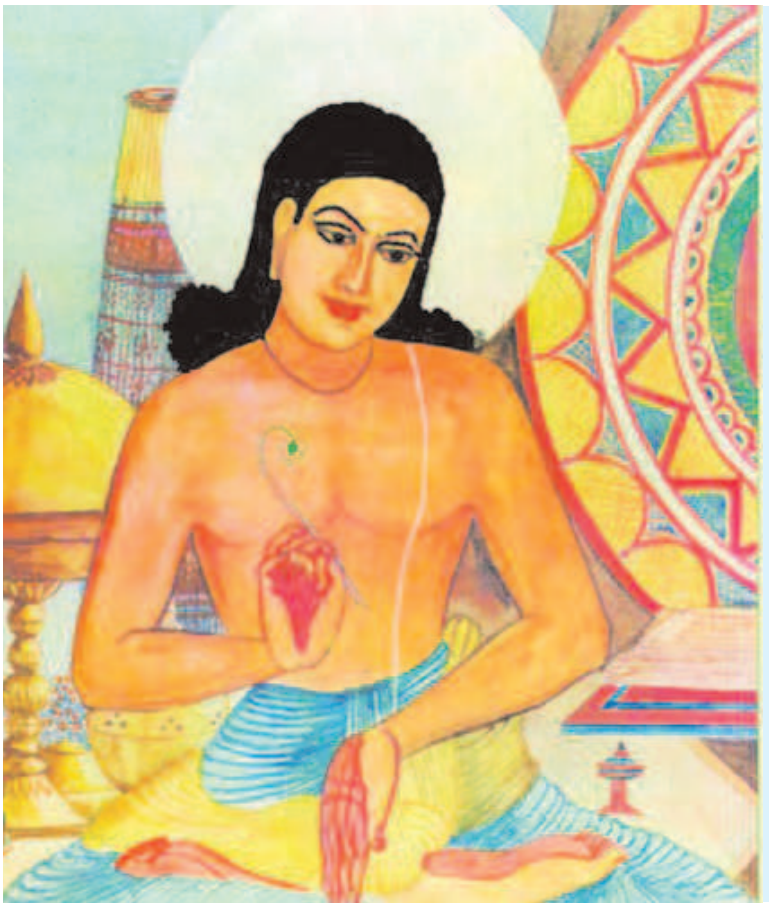

शंकरदेव ने नववैष्णव आंदोलन के प्रचार-प्रसार के लिए सत्र परंपरा का प्रवर्तन किया। ये सत्र असम के भिन्न-भिन्न स्थानों पर आज भी पाए जाते हैं। श्रीमंत शंकरदेव ने अपने जन्मस्थान बरदोवा में प्रथम सत्र (वैष्णव मठ) की स्थापना की। उनके पश्चात उनकी शिष्य परंपरा ने इसका पल्लवन किया। सत्र केवल धार्मिक गतिविधियों के ही केंद्र नहीं होते वे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भी अपनी गति रखते हैं। शंकरदेव प्रवर्तित 'एक शरण नाम धर्म' के विस्तार में इन सत्रों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शंकरदेव के प्रयाण करने के पश्चात उनके योग्य शिष्य माधवदेव तथा अन्य अनुयायियों ने स्वतंत्र रूप से उनके द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। कालांतर में शंकरदेव का 'एक शरण नाम धर्म' चार संहतियों में विभक्त हो गया।

असम के संतकवि श्रीमंत शंकरदेव का जीवन दर्शन

डॉ. आदित्य कुमार मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर,
त्रिलोकनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय
टांडा, अंबेडकरनगर (उ.प्र.)

असम प्रान्त में भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक तथा नववैष्णव धर्म के संस्थापक महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव (सन् 1449-1568 ई.) राष्ट्रसंत थे। भारत के मध्यकालीन इतिहास में हम अनेक संतों, भक्तों तथा समाज-सुधारकों के विषय में पढ़ते और सुनते आए हैं, पर यह विडंबना ही कही जाएगी कि भारतीय राष्ट्र के असम प्रान्त में जन्में श्रीमंत शंकरदेव से हमारा परिचय अत्यल्प है। उनके व्यक्तित्व को हम केवल संत, भक्त, कवि, समाज सुधारक जैसी उपमाओं में नहीं बांध सकते। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा को ध्यान में रखते हुए सांवरमल सांगानेरिया ने कहा है - ''महामहिम शंकरदेव को संस्कृति-पुरुष कहना ज्यादा समीचीन होगा। एक में अनेक गुणों के सामंजस्य का नाम श्रीमंत शंकरदेव है। वह केवल धर्म-प्रतिष्ठापक संत ही नहीं थे और न ही उनकी आध्यात्मिकता केवल धर्म मात्र से ही जुड़ी थी। वे चिंतक, दार्शनिक, शास्त्र मर्मज्ञ, समाज-संस्कारक, मानवतावादी, कवि, संगीतज्ञ, नाट्यकार, नर्तक, चित्रकार, अभिनेता, गीतिकार, गायक-वादक, निर्देशक, मंच व्यवस्थापक आदि के अतिरिक्त वयन विशेषज्ञ भी थे।''

सन् 1481 ई. में श्रीमंत शंकरदेव अपने 17 शिष्यों के साथ प्रथम तीर्थाटन के लिए निकले। अपनी प्रथम यात्रा में उन्होंने वाराणसी, प्रयाग, गोकुल, वृंदावन, गोवर्धन, मथुरा, कुरुक्षेत्र, रामह्रद, सीताकुंड, अयोध्या, द्वारका, बद्रिकाश्रम, जगन्नाथपुरी आदि प्रमुख तीर्थों की यात्रा की। यह प्रथम तीर्थ यात्रा ही उस 'नववैष्णव भक्ति आंदोलन' की दिशा में पहला कदम था, जिसकी प्रतिष्ठा बाद में उनके द्वारा पूरे असम प्रान्त में हुई। 1550 ई. में उन्होंने अपनी दूसरी यात्रा 120 शिष्यों के साथ की। इस यात्रा में उनके योग्य शिष्य माधवदेव भी उनके साथ थे। श्रीमंत शंकरदेव की यात्रा दृष्टि के महत्त्व

को व्याख्यायित करते हुए डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' ने कहा है कि ''भ्रमण में शंकरदेव को भारतवर्ष की विविधता, अनेकता और विराटता में जिस एकता (अद्वैतता) का प्रत्यक्षीकरण हुआ, मानो वही जगत् की अनन्तता और विष्णु-कृष्ण की विराटता व सर्वशक्तिमत्ता की प्रतिमूर्ति थी और वही 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्' के बोध में परिणत हो उनकी सिद्धि बनी। विराट राष्ट्रपुरुष भगवान कृष्ण की शरण उन्हें स्वीकार्य हुई।''

शंकरदेव ने नववैष्णव आंदोलन के प्रचार-प्रसार के लिए सत्र परंपरा का प्रवर्तन किया। ये सत्र असम के भिन्न-भिन्न स्थानों पर आज भी पाए जाते हैं। श्रीमंत शंकरदेव ने अपने जन्मस्थान बरदोवा में प्रथम सत्र (वैष्णव मठ) की स्थापना की। उनके पश्चात उनकी शिष्य परंपरा ने इसका पल्लवन किया। सत्र केवल धार्मिक गतिविधियों के ही केंद्र नहीं होते वे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भी अपनी गति रखते हैं। शंकरदेव प्रवर्तित 'एक शरण नाम धर्म' के विस्तार में इन सत्रों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। शंकरदेव के प्रयाण करने के पश्चात उनके योग्य शिष्य माधवदेव तथा अन्य अनुयायियों ने स्वतंत्र रूप से उनके द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। कालांतर में शंकरदेव का 'एक शरण नाम धर्म' चार संहतियों में विभक्त हो गया। प्रत्येक संहति के अलग-अलग प्रस्तोता हुए। संहति का अर्थ विद्वानों ने सम्प्रदाय से लिया है। चार विभिन्न संहतियों में विभाजित होने के बावजूद 'एक शरण नाम धर्म' की मूल धारा एक ही रही। सत्रों की जिस विशिष्ट संस्कृति का विकास श्रीमंत शंकरदेव ने किया था, उसका अनुपालन इन सभी संहतियों ने किया और वैष्णव धर्म के लोकधर्मी स्वरूप का विस्तार किया।

सत्र एक तरफ विविध सांस्कृतिक कार्यक्रमों के संपादन स्थल हैं तो दूसरी तरफ अनेक कलारूपों के केंद्र भी। सत्रों के भीतर विभिन्न प्रदर्शनकारी कलाओं जैसे नृत्य, नाट्य,गायन-वादन आदि की शिक्षा दी जाती है। सत्र के भीतर इन कलारूपों का अभ्यास श्रीमंत शंकरदेव के समय से ही चला आ रहा है। उन्होंने कला को ईश्वर प्राप्ति का माध्यम माना था। नववैष्णव भक्ति आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने कई कलारूपों को जन्म दिया। वे स्वर, ताल, लय, राग आदि सांगीतिक तत्वों के कुशल विशेषज्ञ थे। उन्होंने पौराणिक प्रसंगों को आधार बनाकर नाटकों की रचना की। इन नाटकों को 'अंकिया नाटक' कहा जाता है। अपनी रचनात्मकता में उन्होंने सनातन संस्कृति के महान ग्रंथ 'श्रीमद्भागवत महापुराण', 'रामायण' जैसे ग्रंथों को आधार बनाया और वैष्णव धर्म को लोक से जोड़ कर एक लोकधर्मी संस्कृति का विकास किया। उनकी कृतियों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने वैष्णव संस्कृति को देशकाल परिस्थिति के अनुरूप ढाला।

नाटकों के प्रदर्शन में उन्होंने मुखौटों के प्रयोग की शुरुआत की जो मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के किसी भी संत कवि का प्रथम मौलिक प्रयोग था। मुखौटा कला असम के कलात्मक वैशिष्ट्य का उत्कृष्ट रूप है। असम के विभिन्न लोक कलारूपों में मुखौटा कला की समृद्ध विरासत है। इस कला का इतिहास महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव प्रवर्तित नववैष्णव आंदोलन से जुड़ा है। शंकरदेव असम के संदर्भ में विभिन्न कलाओं के जन्मदाता कहे जाते हैं। उन्हें लोक एवं शास्त्र दोनों का गहरा अनुभव था। नववैष्णव धर्म को विस्तार देने के लिए उन्होंने नाटकों की रचना की। इन नाटकों को असम में अंकिया नाट्य की संज्ञा दी जाती है। इन नाटकों की रचना उन्होंने राम और कृष्ण के पौराणिक प्रसंगों को आधार बनाकर की। इन नाटकों की रचना के साथ शंकरदेव ने इनका प्रदर्शन भी किया। प्रदर्शन के समय उन्होंने विभिन्न कलात्मक अभिधानों का भी उपयोग किया। वे नाटकों की प्रदर्शन-विधि को जीवंत एवं प्रभावकारी बनाना चाहते थे, जिसके लिए उन्होंने मुखौटों की उपयोगिता को प्राथमिकता दी। अपने नाटकों में विभिन्न पौराणिक चरित्रों के अभिनय को सजीव रूप देने के लिए उन्होंने मुखौटों के प्रयोग की नींव डाली। उन्होंने स्वयं मुखौटों का निर्माण प्रारंभ किया। अपने पहले नाटक 'चिह्न यात्रा' में मुखौटों का सर्वप्रथम प्रयोग किया। मुखौटों के प्रयोग के पीछे उन्होंने अपनी लोकाभिमुखता का परिचय दिया। नाटकों के प्रदर्शन में मुखौटों की अनिवार्यता उनकी मौलिक देन है। साधारण जनसमाज जिसे 'लोक' कहते हैं, उसका नाटकों के प्रति सीधा झुकाव बिना जीवंतता एवं आकर्षण के संभव नहीं था। पौराणिक पात्रों के समान अभिनय एवं दर्शनीयता न होने के कारण लोग स्थिर एवं एकरस हो सकते थे, इसलिए शंकरदेव ने इस कला का प्रवर्तन किया।

राष्ट्रसंत श्रीमंत शंकरदेव का महत्त्व असम प्रांत को नवजीवन देने की दृष्टि से तो है ही, साथ ही असम और राष्ट्र के समस्त सांस्कृतिक संबंधों को पुनरुज्जीवित और सूत्रबद्ध करने में भी है। उनके विराट व्यक्तित्व में संपूर्ण राष्ट्र को साथ लेकर चलने की भावना थी। उनका चिंतन 'स्व' और 'पर' के भेद से ऊपर उठकर राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए वरदान है। सनातन धर्म और संस्कृति के नाम पर आज असम में जो कुछ शेष है उसके मूल में शंकरदेव का महनीय व्यक्तित्व है। पाँच शताब्दियों के पश्चात भी उनकी प्रासंगिकता अगर आज बनी हुई है तो इसके मूल में उनकी बहुज्ञता, कलाप्रियता, भारतीय बोध को समग्रता में देखने की दृष्टि, समन्वयात्मक बुद्धि और लोकमंगलकारी दृष्टि है। लोक में ऐसी स्वीकार्यता भारतीय संत परंपरा में विरले संतों को मिली है। ❑

The role of Rishikas and Rishis in Teacher-Student relationship

Dr. TS Girishkumar

Professor of Philosophy (Rtd) MSU Baroda

Bharat had ever had a very systematic and appropriate method and pattern of educating the future generations. The very spirit and the parpose of educating and imparting knowledge to the younger minds is adequately spelt out by Maharishi Akshapada Gautama in the third century BC in the text, Nyayasutra. Let us look at this spirit.

Knowledge must refine the knower

The ultimate result of obtaining knowledge is the betterment and refinement of individuals, through a process. In Sanskrit, it is termed as 'Sphutikarana'. This comes from the nature of knowledge, as Gautama says that knowledge must have the property of affectivity; or the ability of affecting the knower, affecting in such a manner that the knowes gets refined, through a process of Sputikarana, Samskarana to eventually renders one into a Sanskari. This vision of Gautama is essentially from the Vedopanishadic knowledge tradition, which is a creatior of generations of Rishikas and Rishis, who were authentic Acharyas.

Fundamentally, the teachers of Bharat are Acharyas, and there are varities of them. Some of them are called Acharyas, some others are called Upadyayas and many of them are called Gurujis, all for different reasons, distinct logic and-concepts. And in every case, especially in ancient times, they were all either Rishikas or Rishis owing to their method of obtaining or gathering knowledge. To be more specific, one has to be a Yogi in order to

become a teacher, or for that matter, he has to go in search for knowledge. This had been so, because of the method of gathering knowledge, or the methodology of knowing.

Methodology

Given the present ways of gathering knowledge, and the methodology through which all of us got educated, a simple looking back through our own experiences of obtaining knowledge, one can make a construct of the methods through which one obtained certain amount of knowledge. To make it simple, let us say that teachers taught us from books and after certain stage, one oneself goes through books for further knowing; and indeed, also with the help of many elders.

Should one go into some technicalities with this methodology? One soon understands that the basic source of knowing is through sense – object – contact -experience. Rhetorically, this is roughly termed as cognitive method, since cognition or contact (Sense – Object) becomes the primary source. For all other sources of knowing like inference, analogy and verbal testimony, the sense object contact is always fundamental, or primary.

Now, human sense organs have limitations – rather, serious limitations. Sense organs can operate only within a given framework, and that too with serious possibility to mistakes. Obviously, for ancient people, sense organs simply and alone could never provide them with enquiries when they developed any.

Subsequently in time, with the development of empirical studies and empirical sciences that go about through analysing causation cause-effect relationships and such connections, science developed. With the development of science, scientific instruments came into existence and these scientific instruments had slowly but steadily transcended the limitations of sense organs. This enabled mankind to see and learn those things which were hitherto hidden from them. Science developed, scientific instruments developed, and mankind developed with all kinds of inventions and new knowledge. This had been the general situation with all civilised societies. With the development of sciences and instruments of sciences, the then civilised societies became convinced that only they have all world's knowledge and they alone with the civilised societies. In their greed for money, hunger for extension of ruling far flung lands, they started conquests through trading and at the same time they kept teaching their knowledge tradition in their newly made colonies. They also started claiming that they were civilising the world and providing religion to the pageants.

This brings in the importance of Rishikas and Rishis and their relations with teachers of Bharat, creators of all knowledge of Bharat and beginners of Bharatiya knowledge tradition which is the Vedopanishadic knowledge tradition. This explicitly demonstrates that all great teachers of Bharat had essentially been Rishikas or Rishis to begin with. Others were simply spreading the knowledge tradition created by such Rishikas and Rishis, in their own manners and ways.

Methodology in Bharat

Bharat has the oldest knowledge tradition, the oldest written books and at the same time, the oldest and uniquely distinct methodology knowing. Among the six systems of Darshana (Philosophy) in Bharat, Yoga is one. The available knowledge of Yoga primarily comes from what Maharishi Patanjali composed much later in time, from Bharatiya shruti and smriti traditions of knowledge preserving. Yoga has a method of knowing, termed 'Yogaj'. Yogaj is 'Yogic perception' which is actually trans – sensory perception. Through the method of Yogaj, the perception is direct – not

Nagariks of Bharat are normally traditional. There is this strong Bharatiya Sanskriti, the Vedopanishadic knowledge tradition that keeps influencing them in every walk of life both implicitly and explicitly. The Bharatiya Sanskriti, the Vedopanishadic knowledge tradition and the Bharatiya 'Parampara' are protected, preserved and transmitted from generations to generations by and through the Hindu Dharma.

through sense organs object contact, but mind object contact, where sense organs are not needed.

Given common sense logic, the first step to knowing should have been development of Yogaj to all aspirants to knowledge. We know that the Vedas are knowledge experiences of Rishikas and Rishis which were compressed into Suktas of the Vedas. From this, it becomes natural that the method of Yogaj pre existed such experiential (trans-sensory) knowledge traditions we find in the Vedas. The texts available to us are witness to this claim, rigorous proof to this claim, as, much later in time, we realise that the knowledge available to us in Bharatiya texts is demonstrated to be much more accurate than what is available through modern scientific knowledge.

Teachers are Rishikas and Rishis

This brings in to the importance of Rishikas and Rishis and their relations with teachers of Bharat, creators of all knowledge of Bharat and beginners of Bharatiya knowledge tradition which is the Vedopanishadic knowledge tradition. This explicitly demonstrates that all great teachers of Bharat had essentially been Rishikas or Rishis. Others were simply spreading the knowledge tradition created by such Rishikas and Rishis, in their own manners and ways.

In other words, there was no knowledge in Bharat other than through these great minds. Naturally, Bharat could gather all knowledge whatever; when the rest of the world remained primitive, as they had to wait long time for the cognitive and empirical methods to develop. At the same time, we see some other civilisations like the Greeks, Incas and the like coming to Universities of Bharat and learning things and subsequently civilising their own societies. Of course, they further extended and developed what they learned from Bharat and used Bharatiya experiential knowledge as Cognitive knowledge in their ways, through Shravana, Manana and Nidhityasana etc.

Teachers of present times

Nagariks of Bharat are normally traditional. There is this strong Bharatiya Sanskriti, the Vedopanishadic knowledge tradition that keeps influencing them in every walk of life both implicitly and explicitly. The Bharatiya Sanskriti, the Vedopanishadic knowledge tradition and the Bharatiya 'Parampara' are protected, preserved and transmitted from generations to generations by and through the Hindu Dharma.

Here it becomes natural for teachers of Bharat to be influenced by these, and it is also natural for them to continue the spirit of learning and teaching in the Rishika Rishi tradition. Some of the Sanyasis of later times repeat this knowledge tradition strongly and explicitly, and their disciples keep extending their teachings in all areas, including our common teachers who are rather professionals. This, of course, does not exclude exceptions which go out of the Sanskari Bharatiya existence, and their numbers were much less in the past and shall also be so for new and for the future. It shall also be the case that from time to time, such deviating Nagariks shall have to face corrective mechanisms created by Sanskari Nagariks, where, some shall get corrected and the irredeemable ones shall be left to suffocate in their own foul thoughts.

All told, it need not be demonstrated any further that the Sant Parampara of Bharat had always been not only a strong foundation for teacher student relationship, but also shall ever remain so. ❑